MHI-03

इतिहास-लेखन

इतिहास का परिचय

1

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

— *इन्दिरा गांधी*

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

इन्दिरा गाँधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

MHI-03

इतिहास-लेखन

खंड

1

इतिहास का परिचय

विशेषज्ञ समिति

प्रो. बिपन चंद्रा
प्रोफेसर इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टारिकल स्टडीज़
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. कपिल कुमार
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

डॉ. सलिल मिश्रा
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. सब्यसाची भट्टाचार्य
पूर्व-प्रोफेसर इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टारिकल स्टडीज़
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. ए. आर. खान
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

डॉ. शशिभूषण उपाध्याय (*संयोजक*)
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. नीलाद्रि भट्टाचार्य
प्रोफेसर इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टारिकल स्टडीज़
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. रविन्द्र कुमार
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. के.एल. टुटेजा
प्रोफेसर इतिहास
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

प्रो. स्वराज बसु
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

कार्यक्रम संयोजक : प्रो. ए. आर. खान

पाठ्यक्रम सम्पादक : प्रो. सब्यसाची भट्टाचार्य

पाठ्यक्रम संयोजक : डॉ. शशिभूषण उपाध्याय

खंड निर्माण दल

इकाई संख्या	इकाई लेखक	इग्नू संकाय
इकाई 1	प्रो. बिपन चंद्र सेंटर फार हिस्टॉरिकल स्टडीज जे.एन.यू., नई दिल्ली	डॉ. शशिभूषण उपाध्याय (संरचना और विषय संपादन)
इकाई 2	प्रो. गुरप्रीत महाजन सेंटर फार पोलिटिकल स्टडीज जे.एन.यू., नई दिल्ली	**अनुवाद :**
इकाई 3	डॉ. शशिभूषण उपाध्याय इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	डॉ. हेमन्त जोशी
इकाई 4	प्रो. अशोक सेन, पूर्व प्रोफेसर सेंटर फार स्टडीज इन सोशल साइंसेज कोलकाता	

सामग्री निर्माण	आवरण	पांडुलिपि निर्माण
श्री जितेन्द्र सेठी श्री एस.एस. वेंकटाचलम श्री मंजीत सिंह	ग्राफिक प्वाइंट, नई दिल्ली	श्री प्रतुल वशिष्ठ

मई, 2006

ISBN-81-266-2409-4

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइपिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, V-166A, भगवती विहार, त्तम नगर, नई दिल्ली-110059

"Paper used: Agrobased Environment Friendly"

मुद्रक : करन प्रैस, जैड - 41, ओखला फेस - 2, नई दिल्ली – 110020

पाठ्यक्रम की प्रस्तावना

इतिहास क्योंकि मानवता की स्मृति है इसलिए जो भी ऐतिहासिक रचनाओं को लिखते या पढ़ते हैं वह यह समझने की कोशिश करते हैं कि यह स्मृति कैसे काम करती है। अगर आप स्त्री और पुरुषों के जीवन में देखें तो उनकी स्मृति अर्थात किसी अन्य की मदद के बिना प्राप्त उनका प्रत्यक्ष ज्ञान उनके जीवन में जो कुछ हुआ होता है वहीं तक सीमित होता है। ऐसी स्मृति की सीमा से बाहर निकला जा सकता है। जब किसी समाज या समुदाय में अतीत की स्मृतियों को संरक्षित करने का सुविचारित प्रयास होता है तब इतिहास मौखिक और लिखित वर्णनों का रूप लेता है। इस तरह इतिहास अतीत का स्मरण करने, उसे समझने और इस ज्ञान को अन्य लोगों तक पहुँचाने का प्रयास हो जाता है। मौखिक या लिखित ऐतिहासिक वर्णन व्यक्तियों या पीढ़ियों की स्मृति की सीमाओं का विस्तार करते हैं लेकिन जब हमें इन सीमाओं के बाहर घटित चीजों के बारे में बताया जाता है तो हमारे सामने अनेक अपरिहार्य प्रश्न खड़े हो जाते हैं। इतिहास की किसी खास व्याख्या की संरचना की पद्धति क्या है? जो हुआ उसका कोई एक वर्णन दूसरे वर्णन की तुलना में कैसा है? अतीत के बारे में ज्ञान के स्त्रोत क्या हैं? और सच तक कैसे पहुँचा गया है? क्या अंतिम सत्य तक पहुँचना संभव है? विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों में इतिहास की पद्धतियों में क्या फ़र्क है और यह पद्धति प्राचीन काल से आधुनिक समय तक कैसे बदली है? ऐसे सवालों के उत्तर देना ही इतिहास लेखन की मूल चिंता है।

इस पाठ्यक्रम में प्रस्तुत लेखों में इतिहास लेखन के मूल मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। विषय के विशेषज्ञों को इतिहास लेखन के विभिन्न पहलुओं पर लिखने के लिए आमंत्रित किया गया था और इन्हें उस संपादकीय रूपरेखा के तहत संकलित किया गया है जो स्थान की हमारी सीमाओं के भीतर आज के समय में भारतीय इतिहासकारों के लिए प्रासंगिक इतिहास लेखन के कुछ चुने हुए क्षेत्रों को समेकित करने का प्रयास करता हो।

पाठ्यक्रम की शुरूआत हम इतिहास लेखन की पद्धति से जुड़े कुछ सवालों से कर रहे हैं। खंड-1 अर्थात अतीत का वर्णन और विश्लेषण हम कैसे करते हैं इसमें सामान्यीकरण की समस्या, व्याख्या में वस्तुपरकता के मानक, ऐतिहासिक वर्णन में कार्य-कारण की पहचान और इतिहास लेखन और विचारधारा के संबंधों पर चर्चाएँ शामिल हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे आधारभूत सैद्धांतिक और दार्शनिक सवालों का सामना करते हैं जो इतिहास लेखन की विकसित होती हुई पद्धतियों के बारे में बार-बार प्रकट होते हैं।

अगले लेख खंड-2 और 3 में इतिहासलेखन की पूर्व-आधुनिक परंपराओं से संबद्ध हैं। हमने अध्ययन के लिए प्राचीन सभ्यताओं की ऐसी ही तीन परंपराओं को चुना है जैसे ग्रीको रोमन, चीनी और भारतीय। प्राचीन यूनान और रोम में अतीत को प्रस्तुत करने की कला के रूप में इतिहास का प्रारंभिक विकास महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने बाद के समय में इतिहास पर यूरोपीय दृष्टिकोण को गहराई से प्रभावित किया। हमने चीनी परंपरा पर भी नजर डाली है क्योंकि प्राचीनतम सतत ऐतिहासिक वर्णन और दस्तावेज चीनी सभ्यता के साम्राज्यिक केंद्र में ही मिले थे। अंत में हम भारत को लेते हैं और प्राचीन भारत में लिखे गए इतिहास के रूपों की पड़ताल करते हैं। जो यूरोपीय परंपरा से कुछ-कुछ भिन्न हैं। इसके बाद हम बृहद परंपराओं और लोकप्रिय स्थानीय परंपराओं के आलोक में यूरोपीय, अरबी, फारसी और भारतीय इतिहास लेखन के मध्ययुगीन काल का अध्ययन करते हैं। साथ ही स्थानीय इतिहास सूक्ष्म इतिहास और मौखिक इतिहास का भी अध्ययन करते हैं जो किसी समाज या समुदाय के अतीत को प्रस्तुत एवं प्रेषित करने का साधन है (खंड-3)। विभिन्न परंपराओं की तुलना करने से पता लगता है कि अक्सर पश्चिम में उठाई जाने वाली यह धारणा ग़लत है कि कुछ देशों में, जैसे भारत में, इतिहास का बोध नहीं है। यहाँ जो सामान्यीकरण किया सकता है वह यह है कि विभिन्न

संस्कृतियों में इतिहास की विभिन्न धारणाएँ हैं और जिनमें से प्रत्येक उस यूरोपीय संरचना के निकट नहीं है जिसे आदर्श की तरह देखा गया है।

इसके बाद के लेख आधुनिक समय, विशेषकर उन्नीसवी शताब्दी की शुरूआत से विकसित की गई इतिहास लेखन पद्धतियों के बारे में हैं। हमने प्रत्यक्षवादी पद्धति से इसकी शुरूआत की है। यूरोप के कई बुद्धिजीवियों, ऑग्युस्त कोंत जैसे चिंतकों से लेकर लियोपोल्ड फ़ॉन रानके जैसे अनुभववादी इतिहासकारों तक ने सामाजिक विज्ञानों को विकसित करने और इतिहास को जैसा वह घटा वैसा ही प्रस्तुत करने वाले ऐतिहासिक वृतांतों की संभावना में विश्वास रखने वाले दृष्टिकोणों को आधार बनाया। प्रत्यक्षवाद पेशेवर इतिहासकारों के बीच जहाँ सम्पूर्ण वस्तुपरक इतिहास के संसार को आश्वस्त करता हुआ विकसित हो रहा था, वहीं मार्क्सवाद ने उत्पीड़ितों तथा सर्वहारा वर्गों को शोषित कर रहे प्रभावी वर्गो के वैश्विक दृष्टिकोण और विचारधारा वाले वर्गों की समालोचना प्रस्तुत की। मार्क्सवाद के आगमन ने इतिहास को एक संघर्षरत धरातल बनाया क्योंकि कार्ल मार्क्स के अनुसार इतिहास के पास ही ऐसा परिवर्तन लाने की ताकत थी जिससे सामाजिक वर्ग गुजर चुके थे और वर्ग संघर्ष को गति देने की शक्ति भी थी जिससे अन्ततः एक वर्गरहित समाज पैदा हो सकता था। ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के संदर्भ में इतिहास की व्याख्याओं ने जहाँ विश्वभर में सामाजिक राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित किया, वहीं अकादमिक ऐतिहासिक लेखन अधिक प्रत्यक्ष तौर पर 1930 के दशक से अनाल स्कूल की शैली से प्रभावित हुआ। लुसिएन फेबव्र, मार्क ब्लॉक, फ़रनांड ब्रोदेल और इतिहास के इसी मत से प्रभावित कई अन्य लोगों ने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास के पूर्ण इतिहास में समाकलन पर ज़ोर दिया और दीर्घकालिक संरचनाओं पर उनके बल ने पेशेवर इतिहास लेखन के क्षेत्र में एक नई विचारधारा की शुरुआत की। इन सभी कारणों के मद्दे नज़र हमने इतिहास लेखन की इन तीन पद्धतियों पर ध्यान केंद्रित किया है। हाल की कुछ और प्रवृत्तियों का भी अध्ययन करने के उद्देश्य से हमने उत्तर आधुनिकतावाद और मार्क्सवाद के विकास के बाद उत्पन्न मुद्दों और लैंगिक और नस्लीय संबंधों पर किए गए अध्ययनों पर भी विचार किया है(खंड 5)। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विश्वभर में व्याप्त कुछ सबसे अधिक प्रभावी विचारों और बहसों के लिए यह क्षेत्र जाने-माने थे। उत्तर आधुनिकतावाद के प्रस्तावकों द्वारा अपनाई गई विचारधारा पर व्यापकता से सवाल खड़े किए गए हैं और इतिहास की नव मार्क्सवादी विचारधारा को भी निन्दकों से जूझना पड़ा, लेकिन इतिहास को विश्लेषित करने की इन पद्धतियों से इतिहास के आज के विद्यार्थी का परिचय उपयोगी साबित हुआ है। लैंगिक और नस्लीय विषयों पर लेखन विचारधारा की व्यवस्था से उतना संबंध नहीं रखते जितना कि इतिहास लेखन के प्रकारों से, लेकिन अध्ययन के विकासशील क्षेत्रों के रूप में ध्यान ज़रूर खींचते हैं। लैंगिक विषयों के अध्ययन ने विशेष रूप से ऐतिहासिक अध्ययनों के क्षेत्र में एक नया आयाम जोड़ा है।

19वीं और 20वीं शताब्दी में विश्वव्यापी प्रभाव रखने वाली इतिहास की पद्धतियों पर लिखे गए उपर्युक्त लेखों पर चर्चा करने के बाद हम भारत में उस समय प्रचलित पद्धतियों की पड़ताल करेंगे (खंड 6)। भले ही लेखन के कुछ सामान्य गुणों की पहचान करना संभव है जिनसे सचेत रूप में किसी प्रकार की प्रतिबद्धता लक्षित होती है, इतिहासकारों को बने-बनाए खाँचों में डालना न्यायोचित नहीं हैं, फिर भी हम कुछ प्रवृत्तियों की पहचान कर सकते हैं। उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी इतिहास लेखन पर लिखे गए लेख भारत के इतिहास की साम्राज्यिक विचारधारा और राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के बीच विवाद का खाका खींचते हैं। इसके बाद सांप्रदायिक नज़रिए पर एक लेख है जो इतिहास के विमर्श से इतर कारणों से हाल के वर्षों में हमारे देश की एकता के लिए संकट की स्थिति पैदा कर रहा है। केंम्ब्रिज में कुछ ब्रितानी इतिहासकारों ने भारत में साम्राज्यिक शासन की जो नई व्याख्याएँ कीं वह किन्हीं संदर्भों में 19वीं शताब्दी के उपनिवेशवादी पंथ के ही परिवार की लगती हैं। यह एक ऐसी समानता है

जो राष्ट्रवादी विचारधारा के विरुद्ध बार-बार चलाई जाने वाली मुहिमों में दृष्टिगोचर होती है। इस पद्धति में जहाँ संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होती दीखती है वहीं मार्क्सवादी इतिहासकार उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी दृष्टिकोणों से अलग अपनी मौलिकता के प्रति निष्ठावान बने रहे। इतिहास की इन तथाकथित विचारधाराओं पर चर्चा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा कोई भी प्रयास इन सीमाओं के अंतर्गत ही होगा कि इतिहासकारों को विभिन्न विचारधाराओं के गुटों में बाँटने की आम आदत हमें उनके तर्कों की जटिलताओं और सूक्ष्म अर्थों में छिपे भेदों की उपेक्षा करने को प्रोत्साहित करती है। इसके अलावा इन लेखों में किसी बात को समझाने के उद्देश्य से कई बार कुछ इतिहासकारों का ही उल्लेख किया गया है जबकि कई अन्य ऐसे इतिहासकार भी हैं जिनकी रचनाएँ समान रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

आखिरी खंड पर भी यही चेतावनी लागू होती है। इसमें हाल ही के वर्षों में उभरी सैद्धांतिक प्रवृत्तियों और विषय संबंधी दृष्टिकोणों का सर्वेक्षण करने का प्रयास किया गया है। इस तरह इस अंतिम खंड के लेखकों ने अपने लेखों में 'जनोन्मुखी इतिहास', 'सबाल्टर्न इतिहास', श्रमिक इतिहास, इतिहास लेखन में 'सांस्कृतिक' मोड़, पारिस्थितिकीय इतिहास आदि नामों से पहचाने जाने वाले क्षेत्रों में वर्तमान इतिहास लेखन की धाराओं की झलक प्रस्तुत की है। फिर भी इस तरह अध्ययन किए गए इन विकासों से हमारी नज़दीकी उनके दूरगामी महत्व के बारे में पर्याप्त परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने में सहायक नहीं होती। कई इतिहासकारों ने कहा है कि इतिहासकारों के कौशल का मूल्यांकन लंबे इतिहास के कालक्रम में समय ही करता है।

खंड 1 इतिहास का परिचय

इस खंड में शामिल लेखों में ऐतिहासिक प्रणाली के कुछ मूलभूत प्रश्नों पर चर्चा की गई है। जब हम प्रणाली या पद्धति की बात करते हैं तो हम इतिहासकार के शिल्प में अद्वितीयता या किसी गूढ़ बात की चर्चा नहीं कर रहे होते हैं। इतिहासकार जिन प्रणालियों को प्रयोग में लाते हैं वे सामान्यतः किसी भी आम व्यक्ति द्वारा अपने फैसले लेने में या वस्तुओं और अपने आसपास के लोगों के बारे में राय बनाने में प्रयुक्त किए जाते हैं। हमारे दैनिक जीवन में हमारी निर्भरता कुछ सामान्यीकरणों और कार्य-कारण संबंधों पर होती है जिन्हें हम अन्य पर्यवेक्षकों द्वारा हम तक पहुंचाए गए ज्ञान और अवलोकनों के आधार पर स्थापित करते हैं। फिर भी इस तरह के सामान्यीकरण और कार्य-कारण संबंध बनाने के तरीके और इतिहासकार के तरीके में अंतर यह है कि इतिहासकार किसी नतीजे या अतीत में हुई घटनाओं के वर्णन तक पहुंचने के लिए सुविचारित और आलोचनात्मक चेतना का इस्तेमाल करता है और अपने प्रत्यक्ष ज्ञान या अपने आसपास के लोगों के ज्ञान की सीमाओं के बाहर आता है और ऐसा करते हुए इतिहासकार विभिन्न प्रकार के प्रमाणों की जाँच और उनका मूल्यांकन करता है। आलोचनात्मक दिमाग का सचेत उपयोग ही इतिहास या समाजविज्ञान में प्रयुक्त पद्धतियों को उस पद्धति से अलग करता है जिसके तहत एक आम व्यक्ति निर्णय करता है कि रोजमर्रा के जीवन में सामान्यतः सच क्या है या कारण-कार्य संबंध क्या हैं।

हम इतिहास में सामान्यीकरण प्राप्त करने के तरीकों और उन सामान्यीकरणों की वैधता के परीक्षण (इकाई 1) और कारण-संबंध (इकाई 2) से आरंभ करेंगे। इनके लेखकों ने बहुत सरल तरीके से शताब्दियों से चले आ रहे इतिहास लेखन में विकसित सिद्धांतों के दार्शनिक आधार को समझाया है। सामान्यीकरण और कारण-कार्य संबंध के बारे में वक्तव्यों में निष्कर्ष शामिल होते हैं। ऐसे निष्कर्षों पर, जो अक्सर हमारे दिमागों में प्रश्नों से परे अवधारणाओं में छिपे होते हैं, आलोचनात्मक दृष्टि डालना कुछ सिद्धांतों या किसी पद्धति को विकसित करने के लिए आवश्यक है। जहाँ पहले दो लेख हमें सामान्यीकरण और कारण-कार्य संबंधों से संबद्ध निर्णयों की आवश्यक आलोचना के प्रति जागरूक करते हैं, वहीं तीसरा लेख निर्णयों में संभावित पूर्वाग्रहों के अर्थात् वस्तुपरकता (इकाई 3) की आवश्यकता के बारे में है। हालाँकि हाल के दिनों में वस्तुपरकता की संभावना या किसी भी तरह की संपूर्ण वस्तुपरकता पर भी प्रश्नचिन्ह लग गए हैं। फिर भी सदियों से वस्तुपरकता इतिहास के सत्यता के दावे का आधार रही है। शायद इस समस्या के बारे में इतिहास का आलोचनात्मक कथन के जरिए वस्तुपरकता के निकटस्थ पहुँचने के संदर्भ में सोचना उपयोगी होगा अन्यथा इतिहास लिखना बौद्धिक तौर पर सार्थक न हो पाएगा। अगले लेख के लेखक ने ऐसे ही एक प्रश्न अर्थात् विचारधारा और इतिहास (इकाई 4) पर विचार किया है। यह पाया गया कि अतीत की सामाजिक बनावट में उनका समर्थन करने वाली विचारधाराएँ रही हैं जो इतिहास की व्याख्या करने में कुछ अड़चनें पैदा करती हैं; इस संदर्भ में लेखक ने इतिहास के विभिन्न चरणों में विचारधारा से जुड़ी दृष्टियों का सर्वेक्षण करते हुए काल मार्क्स के विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित किया है।

कुल मिलाकर खंड के यह लेख इतिहास लेखन के इस पाठ्यक्रम के विषयों के कुछ प्रमुख मुद्दों की पड़ताल करते हुए उन संकल्पनाओं और विश्लेषण के तरीकों की चर्चा करते हैं जिनका उपयोग बाद में हुआ है।

इकाई 1 सामान्यीकरण

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

सामान्यीकरण इतिहासकारों के काम करने के उन तरीकों का एक महत्वपूर्ण पहलू है जिन्हें मार्क ब्लॉक इतिहासकारों के 'व्यापार की रीति' कहते हैं। यह एक जटिल और व्यापक विषय है जो इतिहासकारों के कौशल के लगभग सभी पक्षों पर असर डालता है। मैं इनमें से कुछ ही पहलुओं तक अपनी बात को सीमित रखुँगा:

- सामान्यीकरण क्या है? सभी सामान्यीकरण करते हैं भले ही उन्हें यह नहीं मालूम होता कि वह ऐसा कर रहे हैं। सामान्यीकरण के विभिन्न स्तर क्या हैं?
- सामान्यीकरणों से क्यों नहीं बचा जा सकता? और कुछ लोग इसका विरोध क्यों करते हैं?
- सामान्यीकरण की भूमिका या उपयोग क्या हैं, इतिहासकारों के कौशल में इनका क्या योगदान है?
- सामान्यीकरण कहाँ से मिलते हैं, उनके स्रोत कौन-कौन से हैं और उनका अर्थपूर्ण प्रयोग कैसे सीखा जा सकता है?
- हम सामान्यीकरण करने की क्षमता को कैसे सुधार सकते हैं?

1.2 सामान्यीकरण क्या है?

सामान्यीकरण असंबद्ध और अस्पष्ट तर्कों का काल और दिक् में आपस में जुड़ना है। यह उनका समूह है, उनका तार्किक वर्गीकरण है। सामान्यतः सामान्यीकरण तथ्यों के बीच का संबंध या संपर्क है, यह एक प्रकार का निष्कर्ष है या जैसा मार्क ब्लॉक कहते हैं "यह प्रक्रियाओं के बीच उदाहरण प्रस्तुत करने वाला संबंध है।" यह किसी प्रकार की व्याख्या या कार्य-कारण, मोटीवेशन या प्रभाव या असर बनाने के लिए किए गए प्रयासों का परिणाम है।

मौटे तौर पर सामान्यीकरण वह साधन है जिसके ज़रिए इतिहासकार अपनी सामग्री को समझते हैं और तथ्यों की अपनी समझ को दूसरों तक पहुँचाते हैं। घटनाओं के विश्लेषण और व्याख्याएँ आदि अक्सर सामान्यीकरणों की मदद से होती हैं।

जब हम 'तथ्यों' या आँकड़ों या प्रक्रियाओं को वर्गीकृत करते हैं और उनकी तुलना या मिलान करते हैं या उनके बीच की समानताएँ और विषमताओं की खोज करते हैं और उन पर आधारित निष्कर्ष निकालते हैं तब हम इन दो बेहद प्राथमिक कामों के साथ ही सामान्यीकरण करने में शरीक हो जाते हैं।

इस तरह हम सामान्यीकरण तब करते हैं जब हम अपने तथ्यों को एक के बाद एक श्रृंखला में पिरोते जाते हैं। उदाहरण के लिए जब हम किसी नेता की जाति या धर्म की बात करते हैं तब हम सामान्यीकरण कर रहे होते हैं। किसी नेता या लेखक को जाति से जोड़ देखते हुए हम यह सुझा रहे होते हैं कि उसकी जाति उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण हिस्सा है और इसलिए उसके राजनैतिक और साहित्यिक कार्यों का भी। यहाँ तक कि उसकी उमर का उल्लेख करना भी सामान्यीकरण ही है। अधिक व्यापकता से देखें तो सामान्यीकरण तब होता है जब हम तथ्यों को समझने या आँकड़ों, वस्तुओं, घटनाओं और अतीत के दस्तावेजों के बीच किन्हीं अवधारणाओं की मदद से संबंध स्थापित करते हैं और उन्हें दूसरों तक संप्रेषित करते हैं।

सामान्यीकरण साधारण या जटिल हो सकते हैं या निम्न या उच्च स्तरीय हो सकते हैं।

निम्न स्तरीय : निम्न स्तरीय सामान्यीकरण तब होता है जब हम किसी तथ्य या घटना को किसी खाँचे में डालते हैं, उसका वर्गीकरण करते हैं या उसे कालबद्ध करते हैं। उदाहरण के लिए किन्हीं तथ्यों को आर्थिक कहना, किसी व्यक्ति को किसी जाति, क्षेत्र, धर्म या पेशे से जोड़कर देखना या यह कहना कि अमुक घटना किसी एक विशेष वर्ष, दशक या शताब्दी में हुई थी।

मध्य स्तरीय : मध्य स्तरीय सामान्यीकरण तब होता है जब कोई इतिहासकार किसी विषय के अध्ययन के लिए उसके विभिन्न तत्वों के बीच अन्तर्सम्बन्ध खोजने का प्रयास करता है; उदाहरण के लिए जब हम किसी विशेष समय, स्थान या चरित्र से जुड़े सामाजिक यथार्थ के अंश का अध्ययन कर रहे होते हैं। इस संदर्भ में उदाहरण के लिए 1929-37 तक पंजाब में किसान आंदोलन - बहुत हुआ तो इतिहासकार आगे और पीछे के संबंधों और कड़ियों को देख सकता है लेकिन उसे अपने को विषय वस्तु तक सीमित रखना होगा। वर्ग चेतना, हित समूह, पूँजीवाद, उपनिवेशवाद, राष्ट्रवाद और सामंतवाद जैसे विषयों को शोध से नहीं परखा जा सकता सिवाय उन मध्य स्तरीय सामान्यीकरणों के जैसे 1920 के दशक में जमशेदपुर में मज़दूरों, 1930 के दशक में भारत में औद्योगिक पूँजीवाद का विकास और 1930 के दशक में भारत में श्रमिक क़ानूनों के बनने से संबंधित सामान्यीकरण।

व्यापक सामान्यीकरण : यह तब होता है जब इतिहासकार समाज को बाँधने वाले संभावी, व्यापक सूत्रों और महत्वपूर्ण संबंधों तक पहुँचते हैं। यह इतिहासकार किसी पूरे युग में समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिस्थितिकीय सूत्रों का अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं। इतिहासकार जब किसी सीमित विषय का अध्ययन कर रहे हों तब भी वह इन सूत्रों का राष्ट्रव्यापी, समाजव्यापी और यहाँ तक कि विश्वव्यापी दृश्य उकेरने का प्रयत्न करते हैं। कई बार जब वह सीमित विषय का अध्ययन करते हैं तब यह व्यापक सामान्यीकरण उनके दिमाग में होते हैं। उदाहरण के लिए अक्सर जब कोई यूरोपीय विद्वान एशियाई या अफ्रीकी समाज के किसी विशिष्ट सामाजिक या धार्मिक पहलू का अध्ययन करता है तो एशिया और अफ्रीका की व्यापक प्राच्यवादी समझ उसके मस्तिष्क में होती है। इसी तरह जब कोई ब्रितानी विद्वान किसी विशेष काल में एशियाई देश के आर्थिक इतिहास को पढ़ता था या आज भी पढ़ता है तो उपनिवेशवाद की व्यापक समझ से प्रेरित होता है।

समाज व्यवस्था (उदाहरण के लिए पूँजीवाद), या समाज के विकास का चरण (सामंतवाद या उपनिवेशवाद) या एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में संक्रमण (सामंतवाद से पूँजीवाद या

उपनिवेशवाद से उत्तर उपनिवेशवाद) का अध्ययन व्यापक सामान्यीकरणों के व्यापकतम रूप हैं। व्यापक सामान्यीकरण करने वाले ऐसे कुछ इतिहासकार और समाजशास्त्री हैं : कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, मार्क ब्लॉक, फेरनांड ब्रोडेल, एरिक हॉब्सबॉम, एमान्युएल वेलरस्टाइन और भारत में डी.डी. कौसांबी, आर.एस. शर्मा, रोमिला थापर और इरफ़ान हबीब।

मेटा हिस्ट्री : मेटाहिस्ट्री अक्सर अनैतिहासिक होती है क्योंकि वह इतिहास पर इतिहास से बाहर का कोई सिद्धांत लादना चाहती है - यह सिद्धांत इतिहास के ठोस अध्ययन से उभर कर सामने नहीं आता। कई बार कोई एक कारण या 'इतिहास का दर्शन' ही सभी ऐतिहासिक परिवर्तनों को समझाने के लिए काम में लाया जाता है। इस पद्धति के उदाहरण हैं : हीगल, स्पैंगलर, टायनबी या 'द क्लैश ऑफ़ सिविलाइजेशन्स' पर हाल का लेखन।

मार्क्स या वेबर की पद्धति मेटाहिस्ट्री के उदाहरण नहीं है क्योंकि वह ठोस इतिहास, समाज, राजनीति, विचारधारा आदि का विश्लेषण करने के लिए बने सिद्धांत हैं। इन पद्धतियों के तत्व ठोस इतिहास का विश्लेषण करके प्रमाणित किए जा सकते हैं। यह पद्धतियाँ तब भी सही हो सकती हैं जब मार्क्स या वेबर के वक्तव्य और ठोस ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण ग़लत साबित हों। दूसरी ओर यदि स्पैंगलर या टायनबी की किसी विशेष घटना की व्याख्या ग़लत साबित हो जाए तो उनका पूरा सिद्धांत ही ढह जाता है।

1.3 सामान्यीकरण की अनिवार्यता

सामान्यीकरण से बचा नहीं जा सकता। सभी यह करते हैं और इनका इस्तेमाल करते हैं। यहाँ तक कि जब इतिहासकार सोचता है वह ऐसा नहीं कर रहा है तब भी वह सामान्यीकरण कर रहा होता है। सामान्यीकरण शब्दों के अनुक्रम में ही निहित होता है। एक अवधारणा है कि 'इतिहासकार को अतीत की जानकारियाँ एकत्रित करनी चाहिए और उन्हें तिथिवार क्रम में संजोना चाहिए। इससे या तो अतीत का अर्थ उभरता है या स्वयं को प्रकट करता है।' दूसरे शब्दों में इतिहासकार का काम जानकारियों की वैधता परखना और उनकी सत्यता को प्रमाणित करना है न कि उनकी व्याख्या करना अर्थात उनका सामान्यीकरण करना। इसका विपरीत दृष्टिकोण यह है कि स्रोत अपने आप कोई अर्थ प्रकट नहीं करते और टिप्पणियों का संग्रह भी, भले ही कितनी सावधानी से उन्हें एकत्र किया गया हो, इतिहासकार को यह नहीं बता पाते कि उसे क्या लिखना है। सामग्री को किन्हीं तार्किक सिद्धान्तों अर्थात् चयन के, महत्व और प्रासंगिकता के कुछ सिद्धान्तों के आधार पर संयोजित करना होता है यहाँ तक कि 'तथ्यों' के बारे में लिखी गई टिप्पणियों में भी चयन का कोई सिद्धान्त होना चाहिए। अन्यथा इतिहासकार ध्यान रखने योग्य तथ्यों में 'डूब' जाएगा। यह निम्नलिखित कारणों से आवश्यक है :

i) चयन इसलिए आवश्यक है क्योंकि 'तथ्य' बहुत सारे हैं। इसीलिए हर इतिहासकार चयन करता है। प्रश्न यह है कि वह चयन करता कैसे है? इसके अलावा यह केवल तथ्यों के चयन का सवाल नहीं है क्योंकि इससे यह आभास होता है कि तथ्य इतिहासकार के सामने बिखरे पड़े होते हैं, किसी थाल में सजे हों जैसे। वास्तव में इतिहासकार को उन्हें खोजना पड़ता है जिसमें यह निहित है कि चयन के कुछ सिद्धांत होते हैं।

ii) दूसरा एकत्रित तथ्यों को क्रमवार और समूहबद्ध करना होता है। इन दोनों बातों के लिए स्पष्टीकरण, कार्य-कारण, उत्प्रेरण एवं प्रभाव आवश्यक होते हैं। दूसरे शब्दों में विषय के तौर पर इतिहास का आधार विश्लेषण है। वास्तव में एक सीमित अर्थ को छोड़कर तथ्य तभी तथ्य बनते हैं जब उनका सामान्यीकरण होता है।

   क) उदाहरण के लिए एक जमींदार या एक किसान या गुलाम या पूंजीपति तथ्य सरीखे लगते हैं लेकिन यह सामान्यीकरण का ही परिणाम है। यह तभी हो पाता है जब

विश्लेषण और व्याख्या के बाद यह पाया जाता है कि इन्हें इतिहासकार के लिए जानकारियों के तौर पर काम में लाया जा सकता है।

ख) जनगणना की सांख्यिकी को ही लें। यह तथ्य जैसे लगते हैं लेकिन यथार्थ में यह सामान्यीकरण के वह परिणाम हैं जो उन लोगों ने किए थे जिन्होंने यह तय किया था कि जनगणना कर्मी किन शीर्षकों के तहत तथ्य एकत्रित करेंगे।

ग) फिर किसानों को सांख्यिकीय सर्वेक्षण को लें। आप उनकी जात या वर्ग कैसे निर्धारित करते हैं? गरीब किसान कौन है? कृषि मजदूर कौन होता है? या फिर जमींदार कौन होता है? हाल के वर्षों तक जनगणना से कई लोगों की मांग थी कि वह ब्राह्मण एवं राजपूतों में इनका वर्गीकरण करें। उत्तर प्रदेश में एक जातीय समुदाय है जो अपने को लोध राजपूत कहलवाना चाहता है लेकिन जो पिछड़ी जातियों के आरक्षण के लाभ पाने के लिए स्वयं को अन्य पिछड़ी जातियों (ओ बी सी) में भी घोषित करता है।

घ) किसी भी तथ्य या समूह का उल्लेख किसी सामान्यीकरण को छिपाता है। ब्राह्मण तिलक (या बनिया गाँधी) कहने में ऐतिहासिक सामान्यीकरण शामिल हो जाता है। ऐसा कहने से यह नजरिया सामने आता है कि उनका ब्राह्मण होना उनकी राजनीति के लिए महत्वपूर्ण था। इसमें उत्प्रेरण का एक पूरा सिद्धांत भी शामिल होता है जो यह दर्शाता है कि लोग क्यों किसी आंदोलन से जुड़ते हैं और उसका नेतृत्व करते हैं या यह भी कि भारतीय लोग राजनीति में क्यों और कैसे संचालित होते हैं। यह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में ब्राह्मणों के वर्चस्व के सिद्धांत को भी प्रतिपादित करता है।

इस दृष्टि से यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि जाति को किस संदर्भ में लाया जाता हैः राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या कर्मकांडीय संदर्भ में। कश्मीरी नेहरू से हम कश्मीर के प्रति उनके प्रेम को उजागर कर सकते हैं या यह कह रहे होते हैं कि उनका कश्मीरी होना उनकी राजनीति के लिए महत्वपूर्ण था। मध्ययुगीन भारत का ही एक उदाहरण लें। अंग्रेजों ने मध्ययुगीन काल को मुस्लिम शासन का काल माना जिसमें यह सामान्यीकरण निहित था कि शासक का धर्म शासन की प्रकृति निर्धारित करता है। लेकिन उन्होंने अपने राज्य का वर्णन ईसाई राज के तौर पर नहीं किया। इसके दूसरी ओर इसी काल खंड को सामंती या मध्ययुगीन कहने का अर्थ एक अन्य सामान्यीकरण पैदा करता है। हम एक अन्य अधिक सीमित उदाहरण लेते हैं। इतिहास में संसदीय भाषणों पर बल दिए जाने का मतलब है कि यह राजनीति और सरकारी नीतियों के प्रमुख निर्धारक होते हैं।

फिर दस्तावेजी तथ्य तो पहले ही उन्हें दर्ज करने वाले व्यक्ति के सामान्यीकरण का नतीजा होते हैं। यह इस बात पर भी लागू होता है कि आँकड़े क्यों और कैसे एकत्रित किए जाते हैं। आज भी समाचार पत्रों में जो तथ्य छपते हैं वह भी संवाददाताओं, संपादकों और मालिकों के सामान्यीकरण करने वाले दिमागों के परिणाम होते हैं।

iii) किसी भी हाल में, जैसे ही हम नामों, तिथियों और महज गणना के परे जाते हैं सामान्यीकरण होने लगता है। अतः सामान्यीकरण के अभाव में हम आँकड़े एकत्रित करने वाले भर रह जाते हैं। सामान्यीकरण के बिना कोई जटिल विश्लेषण या व्याख्या ही नहीं वर्णन भी संभव नहीं है। इसी तरह किसी इतिहासकार के लिए सामान्यीकरण के बिना घटनाओं या संस्थाओं के सतही स्तर से गहरे जा पाना भी संभव नहीं है।

iv) लेकिन विश्लेषण या कार्य-कारण संबंध के लिए कार्य-कारण संबंध के सिद्धांत की आवश्यकता होती है। दार्शनिक सिडनी हुक को उद्धृत करें तो वह कहते हैं 'हर वह तथ्य जो इतिहासकार स्थापित करता है किसी सैद्धांतिक संरचना पर आधारित होता है।'

इसका इतिहासकारों के लिए एक सकारात्मक परिणाम होता है। जब कोई नए तथ्य न खोजे गए हों तब भी दो या दो से अधिक इतिहासकार एक ही विषय या विचार पर काम कर सकते हैं। वह उसी सामग्री पर ताजे सामान्यीकरणों के साथ काम कर सकते हैं। यह बात विशेषकर प्राचीन एवं मध्य युगीन इतिहासकारों के लिए महत्वपूर्ण है। नए स्रोतों एवं सामग्री की अनुपस्थिति में नए सामान्यीकरण एवं पद्धतियाँ नए शोध पैदा कर सकती हैं।

1.4 सामान्यीकरण से जुड़ी आपत्तियाँ

कुछ लोग सामान्यीकरण के खिलाफ हैं और तीन प्रकार की आपत्तियाँ उठाते हैं:

i) पहली आपत्ति इस अवधारणा पर आधारित है कि तथ्यों को सामान्यीकरण से अलग करने की आवश्यकता है और सामान्यीकरणों को तथ्यों से निकलना चाहिए। इस आपत्ति का हम जवाब दे चुके हैं और दर्शा चुके हैं कि सामान्यीकरण ही तथ्यों को तथ्य बनाता है।

ii) कहा जाता है कि हर घटना अद्वितीय होती है और उसका अपना अलग स्वरूप होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज परमाणुवत है और किसी एकरूपता का अनुसरण नहीं करता। लेकिन तथ्य यह है कि अनोखेपन की भी तुलना की आवश्यकता होती है। हम किसी के अनोखेपन को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम उसकी तुलना किसी ऐसी चीज से न करें जिसे हम जानते हैं। अन्यथा अनूठा अज्ञेय है और अकल्पनीय भी। किसी भी हाल में इतिहासकार अनूठे और सामान्य के बीच के संबंधों से ही वास्ता रखता है। उदाहरण के लिए भारतीय राष्ट्रीय क्रांति अनूठी है लेकिन उसका अनूठापन तभी समझा जा सकता है जब हम उसकी तुलना अन्य ज्ञात क्रांतियों से करें।

iii) अधिकांशतः आलोचक वास्तव में उन सामान्यीकरणों को लक्ष्य बनाते हैं जो पूर्व निर्धारित किस्म के होते हैं और ऐतिहासिक यथार्थ पर थोपे हुए दीखते हैं। ऐसे आलोचक गलत नहीं हैं। कई इतिहासकार सामान्यीकरण को दावे की तरह रखते हैं और यह मान लेते हैं कि वह सिद्ध हो चुका है जबकि उसे सिद्ध किया जाना होता है। इसी तरह कई सामान्यीकरण पर्याप्त ढंग से प्रमाणित नहीं होते। अनेक तो तथ्यों, संबंधों और कार्य-कारण के अति साधारणीकरण पर आधारित होते हैं। कुछ सामान्यीकरण तो एकदम अटपटे होते हैं। उदाहरण के लिए 'अफ़्रीका को क्यों पढ़ा जाए?' प्रश्न का उत्तर है क्योंकि वह है या यह कि क्योंकि कुछ देशों में सैनिक तख्ता पलट हो रहा है इसलिए किसी देश में भी होना चाहिए। (भले ही यह उस सुझाव से भिन्न है कि किसी एक देश की घटनाओं का प्रभाव दूसरे देश पर भी पड़ सकता है)। या हर औपनिवेशिक देश का पूंजीपति वर्ग समझौता परस्त होना चाहिए क्योंकि साम्राज्यवाद ने समझौता परस्त पूँजीपति वर्ग तैयार किया था। या फिर यह कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को भी हिंसक होना चाहिए था क्योंकि अन्य राष्ट्रवादी क्रांतियाँ हिंसक रही थीं। या यही कि वैश्वीकरण को सभी देशों में कम विकास पैदा करना चाहिए क्योंकि उसने कुछ देशों में ऐसा किया है। यह सभी आपत्तियाँ उन कुछ सामान्यीकरणों पर उठाई जाती हैं जो अवैज्ञानिक और अतार्किक प्रकृति के होते हैं या वह उन तरीकों की आलोचना होती है जिनके जरिए ऐसे सामान्यीकरणों तक पहुँचा जाता है।

दरअसल, वास्तविक समस्या कुछ अलग रही है और उसे इस प्रकार समझा जा सकता है:

क) सामान्यीकरण को स्पष्ट होना चाहिए ताकि उन पर खुली बहस हो सके।

ख) प्रमुख समस्या सामान्यीकरण के स्तर और प्रकार को लेकर है ।

ग) किसी सामान्यीकरण की वैधता या प्रयोगात्मक स्वरूप या 'सत्य' और उसे वैध करार देने के लिए किस प्रमाण का इस्तेमाल हो रहा है।

घ) सामान्यीकरण कैसे किया जाए यह सीखना और ऐसे अंतरसंबंध स्थापित करने की क्षमता को सुधारना आना चाहिए जो बेहतर और अधिक आधिकारिक एवं उपयोगी हो (अर्थात् अधिक वैध और व्यापक हों)। दूसरे शब्दों में, जब हम कहते हैं कि कोई विशेष इतिहासकार अच्छा इतिहासकार है तब हमारा आशय होता है कि वह एक इतिहासकार की निष्ठा और तकनीकी कौशल वाला होने के साथ-साथ बेहतर सामान्यीकरण करता है।

1.5 सामान्यीकरण की भूमिका

जैसे हमने पहले चर्चा की उसके अनुसार सामान्यीकरण जो कार्य करते हैं उनके सिवा इतिहास के विद्यार्थियों के लिए सामान्यीकरण के कुछ और फायदे भी हैं :

i) यह उसके तथ्यों के संयोजन के सिद्धांत प्रदान करते हैं जिससे इतिहासकारों की वह आधारभूत समस्या हल हो जाती है कि उनके द्वारा जुटाए गए अस्त-व्यस्त तथ्यों के अंबार को किस प्रकार व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत कैसे किया जाए।

ii) वह इतिहासकार की अभिकल्पना को पैना करते हैं या उसकी 'दृष्टि को व्यापक' बनाते हैं। वह लगातार बढ़ रहे यथार्थ के क्षेत्र को समझने की उसकी क्षमता बढ़ाते हैं और अधिकाधिक जटिल अंतरसंबंध तैयार करते हैं।

iii) वह इतिहासकारों को निष्कर्ष निकालने, कार्य-कारण संबंध और परिणामों तथा प्रभावों की श्रृंखला स्थापित करने में सक्षम बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, वह उन्हें प्रयुक्त तिथियों का विश्लेषण, व्याख्या और स्पष्टीकरण देने में मदद करते हैं।

इतिहासकार के कौशल के ककार हैं कौन या क्या, कब, कहाँ, कैसे और क्यों। सीधे तथ्य (अर्थात् निम्न स्तरीय सामान्यीकरण) ज्यादा से ज्यादा हमें कौन (या क्या) तथा कब और कहाँ जैसे सवालों का उत्तर सुझा सकते हैं, लेकिन कैसे और क्यों वाले सवालों के नहीं। इनके लिए तो व्यापक सामान्यीकरण की आवश्यकता होती है।

iv) अधिक सटीक कहें तो सामान्यीकरण इतिहासकारों को नए तथ्यों और स्रोतों को खोजने के लिए प्रेरित करते हैं। अक्सर नए तथ्यों और स्रोतों को नए सामान्यीकरणों की मदद से ही समझा जा सकता है। लेकिन अक्सर यह प्रक्रिया उल्टी होती है। सामान्य तौर पर नए सामान्यीकरणों की वजह से ही नई सामग्री की तलाश की राह बनती है।

v) सामान्यीकरण इतिहासकारों को पुराने और जाने पहचाने तथ्यों के बीच नए संबंध कायम करने में भी मदद देते हैं। जब हम कहते हैं कि इतिहासकार ने पुराने तथ्यों पर नया प्रकाश डाला है तो हमारा तात्पर्य यही होता है कि इतिहासकार ने सुपरिचित तथ्यों को समझने के लिए नए सामान्यीकरण किए हैं।

vi) सामान्यीकरण इतिहासकारों को 'अनुभववाद' और 'अक्षरशः अनुसरणवाद' से बचाता है - अर्थात् स्रोतों को उनके पूर्ण स्वरूप और अक्षरशः अर्थ में लेने से बचाता है। इसके बदले इतिहासकार को अपने विवरण में उनका महत्व और प्रासंगिकता स्थापित करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए (ब्रितानी) विदेशी शासन और उनके जीवन काल के दौरान विदेशी पूँजी के प्रयोग पर दादा भाई नौरोजी का वक्तव्य। सामान्यीकरण का प्रयोग किए बिना इस वक्तव्य को उसके ऊपरी अर्थ में लेने की प्रवृत्ति होती है जिसमें हम उन्हें क्रमानुसार एक के बाद एक उद्धृत करते जाते हैं।

या फिर इतिहासकार नौरोजी की पद्धति के बारे में सामान्यीकरण करते हुए यह देखने का प्रयास करेगा कि उनके वक्तव्य उसके सामान्यीकरण में कैसे इस्तेमाल हो सकते हैं।

हो सकता है कि सामान्यीकरण को और अधिक जटिल बनाना पड़े, हो सकता है कि उनके विचारों की विभिन्न अवस्थाओं या चरणों के लिए अलग-अलग सामान्यीकरण करने पड़ें। या हो सकता है कि ऐसा सामान्यीकरण करना पड़े कि उनके सिद्धांत और व्यवहार में भिन्नता है। या किसी इतिहासकार को कहना पड़े कि उन्होंने सामान्यतः और सतत् अव्यवस्थित एवं अनियमित चिंतन किया है। तब कोई यह सामान्यीकरण कर सकता है कि नौरोजी भ्रमित और असंगत थे। यह किसी भी हाल में उस पाठक का विचार होगा जो 'अक्षरशः अनुसरणवाद' से प्रभावित रचनाएँ पढ़ेगा। दूसरी ओर सामान्यीकरण इतिहासकार को व्याख्या में विभिन्न विकल्पों को देखने की क्षमता देता है जिससे उसकी चर्चा को अधिक सुदृढ़ आधार मिलता है।

नौरोजी के मामले में हम कह सकते हैं कि वह आरंभिक काल में (अर्थात् 1870 के दशक तक) ब्रितानी शासन के प्रशंसक थे और बाद में वह ब्रितानी शासन के आलोचक हो गए और उन्होंने उसे भारत के आर्थिक विकास के लिए रूकावट और गरीबी का जिम्मेदार मानना शुरू कर दिया। इसी तरह, हम यह भी दर्शा सकते हैं कि पहले तो उन्होंने विदेशी पूँजी के प्रयोग का समर्थन किया, लेकिन 1873 के बाद उसके प्रवेश का विरोध करने लगे। हम उनके नजरिए में परिवर्तन के कारणों का विश्लेषण भी कर सकते हैं।

यहाँ हम सामान्यीकरण के उपयोग के फायदे देख सकते हैं, क्योंकि नौरोजी के विचारों को पढ़ने मात्र से ही न तो हम उन्हें समझ पाएंगे और न उनके आर्थिक विचारों का विश्लेषण कर पाएंगे। ऐसा करना तो उनके विचारों का संग्रहण करना और उनका सारांश प्रस्तुत करना होगा।

vii) सामान्यीकरण किसी इतिहासकार को यह क्षमता प्रदान करता है कि वह लगातार यह जांच सके कि वह क्या कह रहा है।

क) सैद्धांतिक स्तर पर जैसे ही कोई होशोहवास में व्यक्तियों, या घटनाओं का वर्गीकरण करता है, खाँचों में डालता है या उनमें आपसी संबंध कायम करता है अर्थात् सामान्यीकरण करता है वैसे ही वह उसकी प्रासंगिकता या अर्थ की जांच कर सकता है।

ख) जैसे ही कोई सामान्यीकरण करता है वह उन तथ्यों को देखना आरंभ कर देता है जो उसका प्रतिवाद करते हैं या 'दूसरी ओर' देख रहे होते हैं। बिना सामान्यीकरण के कोई उन तथ्यों को नहीं देखता जो उसके विचारों का खंडन करते हों; दरअसल, वह विरोधाभासी तथ्यों को देखने से चूक जाता है जबकि वह उसके ठीक सामने पड़े उसे घूर रहे होते हैं। यह विरोधाभासी तथ्यों को देखना इतिहास विषय का आधार है भले ही उसकी अक्सर अवहेलना होती है।

दादाभाई नौरोजी के उदाहरण की ओर लौटें तो हम देखते हैं कि जैसे ही मैंने ब्रितानी शासन की उनकी आलोचना का सामान्यीकरण किया मुझे सवाल पूछना पड़ा कि ब्रितानी शासन की इस आलोचना का पहले की गई प्रशंसा के साथ कैसे तालमेल बैठाते हैं? या वह ऐसा करने का प्रयास करते हैं या नहीं? अगर मैं उनके वक्तव्यों का महज संकलन कर रहा हूँ तो मुझे इस अंतरविरोध को देखने या उसका स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह यदि मैं विदेशी निवेश के बारे में उनके रवैये का सामान्यीकरण करूँ तो मैं विरोधाभासी वक्तव्यों को देखना आरंभ कर देता हूँ। यदि मैं उन वक्तव्यों का संकलन करूँ तो ऐसा करना आवश्यक नहीं। एक अन्य उदाहरण धर्म और राजनीति के संबंधों पर गांधी के वक्तव्यों का होगा। जैसे ही मैं सामान्यीकरण करूंगा मैं उसके विरोधी वक्तव्यों और अन्य प्रकार के

वक्तव्यों को भी देखना आरंभ करूंगा जो उनके इस संबंध में दिए गए बयानों पर प्रकाश डालते हों।

ग) दरअसल, अक्सर जब दूसरे लोग किसी विषय या मुद्दे पर सामान्यीकरण कर चुके हों तब इतिहासकार दुबारा उन पर शोध करते हुए पहले के सामान्यीकरणों पर मौजूदा या नए तथ्यों के साथ कुछ आगे काम कर सकता है। इस तरह वह उन्हें लगातार संशोधित कर सकता है, उनको पुष्ट या अस्वीकार कर सकता है। इतिहासकार का काम आसान हो जाता है अगर वह जिन सामान्यीकरणों को जाँच रहा है उनके साथ-साथ अपने सामान्यीकरण भी स्पष्ट करता चले।

निष्कर्षतः सामान्यीकरण हमारा मार्गदर्शन करते हैं, वह हमें तथ्यों पर, जैसे वह दिखते हैं या जैसा समकालीन या बाद के लेखकों ने उनका वर्णन किया, संदेह प्रकट करने की क्षमता प्रदान करते हैं; वह पुराने तथ्यों की नई संभावित समझ प्रस्तावित करते हैं; वह पुष्टिकरण, खंडन, आगे विकास और विद्यमान विचारों के लिए नए विचार और विषय सामने लाते हैं।

सामान्यीकरण इतिहास के विद्यार्थी को उसका विषय परिभाषित करने में मदद करते हैं, भले ही वह कोई लेख, गृहकार्य, शोध प्रबंध लिख रहा हो या कोई पुस्तक। वह उसे किसी किताब, लेख या प्राथमिक स्रोत से नोट्स बनाने की क्षमता प्रदान करते हैं। दरअसल, इतिहास के किसी विद्यार्थी के लेख या शोध प्रबंध में सामान्यीकरणों की एक श्रृंखला होनी चाहिए, भले ही वह वक्तव्यों की शक्ल में हों या प्रश्नों के रूप में हों। सामान्यीकरण उसे यह क्षमता भी प्रदान करते हैं कि वह जान सके कि उसके कौन से नोट्स उसके शोध की विषयवस्तु के लिए महत्वपूर्ण या प्रासंगिक हैं।

सामान्यीकरण शोधकर्ता को उस सब पर प्रतिक्रिया करने की क्षमता भी प्रदान करता है जो वह पढ़ता है। वह ऐसा तब ही कर सकता है जब वह पढ़ते-पढ़ते सामान्यीकरण कर रहा हो। सामान्यीकरण इतिहासकारों को बहसों के लिए प्रेरित करता है अन्यथा एक-दूसरे के कामों के बारे में उनकी प्रतिक्रिया केवल उनकी तथ्यात्मक ग़लतियाँ दर्शाना भर रह जाता। सामान्यीकरण इतिहासकारों को बहस और विमर्शों के लिए मुद्दे रखने और उन पर लाभदायक चर्चाओं की प्रक्रिया आरंभ करने को प्रेरित करता है। कुछ लोग किसी अन्य इतिहासकार के काम में प्रस्तुत किए गए सामान्यीकरणों से सहमत होकर उनमें नए शोध और विचार की संभावना देखते हैं, दूसरे लोग असहमत होते हैं और जिस घटना की चर्चा हो रही होती है उसकी नई और भिन्न व्याख्याएँ तलाशते हैं और अपने-अपने दृष्टिकोणों के लिए विभिन्न प्रमाण खोजते हैं। इस तरह सामान्यीकरण उनके समर्थन या विरोध में नए प्रमाणों की खोज को बढ़ावा देते हैं। हम किसी सेमिनार में प्रस्तुत किए गए शोध-पत्र की चर्चा कर सकते हैं। अगर उसमें कोई सामान्यीकरण नहीं है तो वह चर्चा का कोई आधार नहीं बना पाता। चर्चा में शामिल लोग ज़्यादा से ज़्यादा उस शोधपत्र में प्रस्तुत तथ्यों को नकार सकते हैं या उसमें कुछ जोड़ सकते हैं। सामान्यीकरण की अनुपस्थिति कुछ भारतीय इतिहास लेखन के उबाऊ लक्षणों में भी दिखाई पड़ती है। पाठक के पास उन पर विचार करने के लिए कुछ नहीं होता।

1.6 सामान्यीकरण के स्रोत

आरंभ में ही यह समझ लिया जाना चाहिए कि सामान्यीकरण प्राप्त करने के लिए न तो कोई सामान्य नियम हैं और न ही कोई मानक प्रक्रियाएँ हैं। फिर भी, इस उद्देश्य के लिए कई स्रोत मौजूद हैं।

i) किसी भी विषय पर उपलब्ध पिछला लेखन एक प्रमुख स्रोत है जिसमें अक्सर विभिन्न सामान्यीकरण होते हैं।

ii) एक अन्य मुख्य स्रोत विभिन्न समाज विज्ञान के विषय हैं जैसे व्यक्तियों के व्यवहार और उत्प्रेरण, जन व्यवहार या भीड़ का व्यवहार, परंपरा की भूमिका, परिवार की भूमिका, जातीय दृष्टिकोण और व्यवहार संबंधी सामान्यीकरण; आर्थिक सिद्धांत एवं इतिहास; राजनीतिक व्यवस्था की कार्य प्रणाली; सामाजिक नृ-विज्ञान (प्राचीन एवं मध्ययुगीन इतिहास के लिए विशेष तौर पर महत्वपूर्ण); भाषा विज्ञान; आदि-आदि। सामान्यीकरण के यह स्रोत विशेषकर महत्वपूर्ण हैं क्योंकि पिछले पचासेक वर्षों में भारत में इतिहास अध्ययन की प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। अब इतिहास को युद्ध और कूटनीति के नज़रिए भर से नहीं देखा जाता और न ही उसे उच्च वर्ग या शासक समूहों या पुरुषों के नज़रिए से देखा जाता है। अब उसका संबंध समाज, अर्थ व्यवस्था, बृहतर राजनीतिक आंदोलनों, संस्कृति, दैनिक जीवन, शोषित, पीड़ित और हाशिए के समूहों जैसे महिलाएँ, निचली जातियाँ और आदिवासी समूहों, पर्यावरण, चिकित्सा, खेल आदि से होता है।

iii) इतिहास, समाज, संस्कृति और राजनीति से संबंधित मार्क्स, वेबर एवं फ्रायड के सिद्धांत सामान्यीकरण के अन्य प्रमुख स्रोत हैं।

iv) इतिहासकार वर्तमान के अध्ययन से भी सामान्यीकरण प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिए, दलितों और अन्य जाति-विरोधी समूहों तथा आदिवासियों के आंदोलन। इसी तरह जन असंतोष और विपक्षी आंदोलनों से भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हुए कई सामान्यीकरण मिल सकते हैं।

v) कई सामान्यीकरण जीवन से भी प्राप्त होते हैं:

क) सहज बुद्धि इसका एक प्रमुख स्रोत है। दरअसल कई इतिहासकार जो सामान्यीकरण पाने के लिए किसी चेतन प्रक्रिया की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते, वह अपनी सहज बुद्धि को अपने सामान्यीकरण के स्रोत के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

ख) इतिहासकार का व्यक्तिगत अनुभव या उसका जीवन-अनुभव एक अन्य स्रोत है। ऐसा अनुभव निश्चय ही विभिन्न कारणों से सीमित होता है: व्यक्ति की गतिविधियों का दायरा, व्यक्ति की जीवन स्थिति, व्यक्ति की हैसियत और साथ ही उसका पालन-पोषण। इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण कुछ इतिहासकारों द्वारा समूहों, दलों और व्यक्तियों के राजनीतिक संघर्षों को परिवार या किसी सरकारी या व्यापारिक संस्था के झगड़ों के आलोक में देखना है।

vi) हम सक्रिय जानकारियाँ एकत्र करने से अर्थात् स्रोतों के वैज्ञानिक विश्लेषण से भी सामान्यीकरण प्राप्त करते हैं। हालाँकि यह सामान्यीकरण करने में उतनी मदद नहीं करता जितनी सामान्यीकरणों के परीक्षण करने में करता है। दूसरे शब्दों में लोग पहले जानकारियाँ एकत्र करके फिर सामान्यीकरण नहीं करते बल्कि चीज़ों को दर्ज करते समय उनके प्रमाणों पर भी लगातार टिप्पणियाँ करते रहते हैं। जो बात यहाँ ध्यान देने योग्य है वह यह है कि तथ्यों को दर्ज करते समय भी विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं को निष्क्रिय संकलनकर्ता नहीं होना चाहिए बल्कि उन्हें एक सक्रिय दिमाग से काम करना चाहिए।

इसलिए सामान्यीकरण पैदा करने का कौशल तब प्राप्त होता है जब हमारा दिमाग सक्रिय होता है। हर सीखी हुई बात को करते हुए उसे सुधारते जाने से जैसे बच्चे करते हैं। बच्चे बहुत ही बेवकूफ़ी भरे सवाल भी अक्सर इसलिए पूछते हैं कि वह बातों में संबंध कायम कर सकें, भले ही उनमें से बहुतों को वह बाद में खारिज भी कर देते हैं। उदाहरण के लिए किसी नए पुरुष से मिलते समय वह पूछ सकते हैं: यह चाचा कौन हैं? यह चाचा क्यों हैं ? इनकी पत्नी कहाँ है? यह अपने बच्चे क्यों नहीं लाए हैं? आपने इन्हें हमारे साथ खाने को क्यों कहा जबकि आप

दूसरे चाचा लोगों को ऐसा नहीं कहते? आप इन्हें ही श्रीमान क्यों कहते हैं, दूसरे चाचाओं को क्यों नहीं कहते? आप इन्हें ही शराब क्यों पिला रहे हैं, दूसरे चाचाओं को क्यों नहीं पिलाते? यह गोरे या काले क्यों हैं या इनकी दाढ़ी क्यों है? आदि। बच्चों के पूछे गए सवालों से समाज के कई पहलुओं का खुलासा होता है। इतिहासकार को बच्चों जैसा जिज्ञासु होना चाहिए। इसलिए अगर कोई स्रोतों के बारे में प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, बच्चों की तरह सवाल पूछता है और उन्हें पढ़ते समय या दर्ज करते समय सामान्यीकरण करता है तो उसका शोध प्रबंध निश्चय ही आगे बढ़ जाएगा।

इसलिए सामान्यीकरण मूलतः एक ऐसा संबंध है जो किसी के दिमाग में किसी भी समय बन सकता है विशेषकर जब उसका दिमाग विषय से पूरी तरह 'भरा' हुआ हो। कई संभावित संबंध और सामान्यीकरण हमारे दिमाग में तब आते हैं जब हम पढ़ रहे होते हैं, तथ्यों को दर्ज कर रहे होते हैं या विषय के बारे में सोच रहे होते हैं। उनमें से कई बाद में त्याग दिए जाते हैं लेकिन कुछ बचे रह जाते हैं जो हमारे शोध पत्र या प्रबंध का आधार बनते हैं। यह हमारे मौलिक योगदान की सामग्री होते हैं। यह वही होते हैं जिनके बारे में हम तब बात कर रहे होते हैं जब हम कहते हैं कि कोई इतिहासकार मौलिक है या उसने कुछ नया कहा है।

1.7 सामान्यीकरण करने की अपनी क्षमता को कैसे सुधारें?

छिपे हुए गूढ़ संबंधों को समझने की क्षमता कोई कैसे अर्जित करता है और उसे कैसे सुधारता है और सतही या ऊपरी संबंधों पर भरोसा नहीं करता है? यह संभवतः एक बहुत व्यापक क्षेत्र है और उनके उत्तर कामचलाऊ भी होते हैं और अपर्याप्त भी। पाठक को उन्हें परिवर्तित करने की काफ़ी गुंजाइश होती है।

सबसे पहले समस्या दोबारा अभिव्यक्त की जा सकती है जिससे प्रश्न का आंशिक उत्तर मिल सके। सामान्यीकरणों की आवश्यकता को जानने के बाद यह आवश्यकता हमारे दृष्टिकोण या मानसिकता का अंग बन जानी चाहिए। हमें हमेशा घटनाओं या वस्तुओं के बीच संबंधों या संयोजनों के लिए शोध करते समय ही नहीं बल्कि आम जीवन में भी सतर्कता अपनाने की आदत डालनी चाहिए। दूसरे शब्दों में हमें सामान्यीकरण करने वाला संकल्पनात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

i) हमें विचारों को निभाने की क्षमता को अर्जित करना और सुधारना आना चाहिए क्योंकि सभी सामान्यीकरण विचारों के रूप में समझे जाते हैं। हमें विचारों को निभाना सीखना चाहिए भले ही शुरुआत में हम ऐसा पर्याप्त ढंग से न कर पाएँ। अपने प्रश्न का बजाय केवल वर्णन करने के हमें निरंतर उसका संप्रत्ययीकरण करना चाहिए। वर्णन करते समय भी हमें अपने विषय को भले ही छोटे से छोटे स्तर पर ही क्यों न हो सामान्य के चित्रण के रूप में लेना चाहिए।

ii) हमें तार्किक सिद्धांतों का प्रयोग करना आना चाहिए। चक्रीय तर्क जैसी तार्किक भ्रांतियों से बचना चाहिए। किसी प्रश्न का सकारात्मक रूप में पुनर्वर्णन उसका उत्तर नहीं होता। उदाहरण के लिए इस प्रश्न का उत्तर कि लकड़ी पानी पर क्यों तैरती है यह नहीं है कि लकड़ी में पानी के ऊपर तैरने का गुण होता है। यह केवल प्रश्न का सकारात्मक रूप है। इसी तरह इस प्रश्न का उत्तर कि अकबर एक महान् शासक क्यों था यह नहीं है कि उसे शासन करना आता था।

iii) भाषा किसी भी इतिहासकार का मूलभूत साधन है। हमें सोचने और लिखने के लिए स्पष्ट भाषा का प्रयोग करना चाहिए यदि वह सरल हो तो भी। भाषा की अस्पष्टता विचारों की गहनता या स्पष्टता नहीं प्रस्तुत करती। जैसा कि सी. राइट मिल्स ने संरचनावाद के उदाहरण में ध्यान दिलाया है कि उत्तर आधुनिक और संरचनावादी भाषा ऐसी अस्पष्टता

के प्रमुख उदाहरण हैं। वे उन अंतर्दृष्टियों के साथ भी न्याय नहीं करते जो उत्तर आधुनिकवाद और संरचनावाद उपलब्ध कराते हैं। यह दोनों तभी तक कायम रहेंगे और इनका योगदान एक स्थाई विशेषता तभी प्राप्त कर पाएगा जब इन्हें प्रयोग करने वाले सरल और आसानी से समझ आने वाली भाषा में अपने को अभिव्यक्त करना सीखेंगे।

iv) जिन बातों की इतिहासकार चर्चा करते हैं, हमें व्यवस्थित तरीके से उनका अध्ययन और परीक्षण करना चाहिए।

v) धारणाओं और सामान्यीकरणों का परिमार्जन करना एक सतत् प्रक्रिया है अतः मित्रों, सहकर्मियों और प्राध्यापकों से इन पर या इनके इर्दगिर्द चर्चा करना बहुत आवश्यक है। किसी भी मामले में विचारों के विकास और परिमार्जन के लिए वार्तालाप आवश्यक होता है क्योंकि वार्तालाप संकल्पनाओं के बिना नहीं किया जा सकता। दो या दो से अधिक लोग एक-दूसरे को केवल तथ्य बताते हुए लगातार बातचीत नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए किसी फिल्म पर चर्चा करते समय भी लोग केवल अभिनेता द्वारा कही गई या की गई बातों के उदाहरण नहीं देते रह सकते। उन्हें संवादों की विशेषताओं और उनकी शैली तथा फिल्म के निर्देशन और अभिनय के अन्य पक्षों पर भी बहस करनी पड़ती है।

vi) नए विचारों के प्रति हमें आलोचनात्मक ग्रहणशीलता का गुण अर्जित करना चाहिए। हम नए विचार केवल इसीलिए स्वीकार नहीं करने क्योंकि वह नए है। विचार नए वस्त्रों की भाँति नहीं होते लेकिन हमें उन पर चर्चा करने का इच्छुक होना चाहिए, उनका परीक्षण, उन पर बहस करनी चाहिए और यदि हम उन्हें उपयोगी पाएँ तो स्वीकारना चाहिए अन्यथा त्याग देना चाहिए।

vii) हमें अध्ययन के अपने क्षेत्र में पिछले सामान्यीकरणों की जानकारी होनी चाहिए। आलोचनात्मक जाँच के बाद हमें उन्हें इस्तेमाल करने की क्षमता विकसित करनी चाहिए। अतः इतिहासकारों की वर्तमान तथा पिछली पीढ़ियों का इतिहास लेखन नितांत आवश्यक है। बहुधा हम नए सामान्यीकरणों को न तो पैदा करते है और न ही विकसित करते है। हम पिछले समान्यीकरणों को कभी उलट-पुलट कर तो कभी सीधा करके सुधारते है। लगभग सभी इतिहासकार यही करते है। उदाहरण के लिए, मैंने भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि में ए. आर. देसाई के इस सामान्यीकरण की जाँच शुरू की कि नरमपंथी राष्ट्रवादी भारत के वाणिज्यिक पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और मैंने धीरे-धीरे एक सामान्यीकरण विकसित किया कि वे उत्पन्न हो रहे औद्योगिक बुर्जुआ का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इसी तरह 19वीं और प्रारंभिक 20वीं शताब्दियों के अधिकतर भारतीय इतिहासकारों ने भारत के प्राचीन तथा समकालीन ब्रितानी इतिहासकारों द्वारा विकसित सामान्यीकरणों की जाँच से शुरूआत की।

viii) तुलनात्मक इतिहास, सामाजिक विज्ञान, प्रकृति तथा भौतिकीय विज्ञान सामान्यीकरण के संपन्न स्रोत है। हम इनसे सुझाव तथा 'सुराग' ले सकते हैं और लेना भी चाहिए। उदाहरण के लिए, चीन या इंडोनेशिया या अल्जीरिया में राष्ट्रवादी आंदोलनों के अध्ययन हमें भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन के बारे में सामान्यीकरण विकसित करने में मदद करते है। फिर भी अन्य देशों या समाज विज्ञानों आदि के अध्ययनों की कोई सीधी उपयोगिता नहीं हो सकती। उन्हें केवल हमारे दिमागों में होना चाहिए और उन्हें व्यापक अभिकल्पना मुहैया करानी चाहिए जिनका परीक्षण किया जा सके और हमारी अपनी सामग्री के लिए संभावित कड़ियाँ भी सुझानी चाहिए। इन्हें शोधकर्ता को शोध के विषय के लिए ताजे प्रमाणों की खोज में सक्षम बनाना चाहिए।

ix) हमें वर्तमान के बारे में बेहतर जानकारियाँ प्राप्त करनी चाहिए। हमें वर्तमान की अच्छी तरह से खोज-खबर लेते रहना चाहिए और दरअसल वर्तमान बनाने में भी शामिल रहना

चाहिए। 'जीवित' को समझने की क्षमता निश्चय ही 'मृत' को बेहतर तरीके से समझने की क्षमता प्रदान करेगी। एक लोकप्रिय मशविरा जो अभिभावक अपने बच्चों को देते हैं इस संदर्भ में काफी प्रासंगिक हैः 'तुम जब अभिभावक बनोगे तब हमें बेहतर समझ पाओगे।' दरअसल हम अतीत के बारे में सामान्यीकरण करने के लिए प्रतिदिन वर्तमान से कर्ज लेते है। इसलिए हमें अपने जीवन-अनुभव की विशेषताओं और जिसे सहज बुद्धि कहते है उसे सुधारना चाहिए क्योंकि अक्सर कमज़ोर सहज बुद्धि के सच बहुत भ्रामक हो सकते हैं। कमजोर सहज बुद्धि या स्वयंसिद्धि के ऐसे सामान्य उदाहरण इसके प्रमाण हैं जैसे यह कहना कि किसी भी प्रश्न के दो पहलू होते हैं। क्योंकि कई स्थितियों में ऐसा नहीं होता; उदाहरण के लिए दलितों के जाति-दमन या स्त्री-उत्पीड़न या सांप्रदायिकतावाद या प्रजातिवाद या औपनिवेशिक दमन या यहूदी विरोध आदि के मामले।

यदि किसी का जीवन-अनुभव सीमित है तो उसकी प्रवृति अतीत की घटनाओं, गतिविधियों और व्यक्तियों को सीमित या संकीर्ण दृष्टिकोण से ही देखने की होगी। उदाहरण के लिए वह सुरेंद्रनाथ बनर्जी या दादाभाई नौरोजी या गाँधी के साम्राज्यवाद विरोध का कारण उनकी व्यक्तिगत कुंठाओं को मानेगा।

इसी तरह कोई राजनीतिक सत्ता की समस्याओं को पारिवारिक झगड़ों की तरह देखेगा क्योंकि वह उनसे परिचित है, या राजनीतिक प्रतिष्ठा को व्यक्तिगत अपमान के संदर्भ में, या सरकार की नीति को व्यक्तिगत कृतज्ञता, प्रतिशोध, विश्वासघात या फिर राष्ट्रीय बजट को घर या रसोई खर्च के संदर्भ में लेगा।

हमें मनुष्यों को उनकी सभी जटिलताओं के साथ देखने की क्षमता भी विकसित करनी चाहिए। लोग कई स्तरों पर जी सकते है, जैसे एक स्तर पर वे बहुत ईमानदार और दूसरे स्तर पर बेईमान हो सकते हैं। कई लोगों में राजनीतिक नेतृत्व क्षमता को व्यक्तिगत सदाचारी जीवन से जोड़ने की गलत प्रवृति होती है। किसी राजनेता के लिए अपने निजी जीवन में बहुत दयालु और राजनीतिक जीवन में बहुत क्रूर होना संभव है। कोई अन्य अपनी पत्नी से विश्वासघात नहीं करेगा पर अपने सहयोगियों से वह ऐसा आसानी से कर लेगा या इसके विपरीत भी हो सकता है। नैतिकता का विक्टोरियन दृष्टिकोण प्रारंभिक पीढ़ियों के कई भारतीय इतिहासकारों के लिए अभिशाप साबित हुआ है।

इसलिए किसी भी इतिहासकार को अपनी सहज बुद्धि की सीमाओं का विस्तार करना चाहिए। उसे विविध अनुभवों और गतिविधियों से परिपूर्ण जीवन जीना चाहिए। कूपमंडूक सा जीवन निरपवाद रूप से इतिहासकार की दृष्टि को सीमित कर सकता है।

कोई कितनी भी कोशिश करे बहु-अनुभवों वाला जीवन नहीं व्यतीत कर सकता इसलिए साहित्य जीवन की बहु-स्तरीय समझ पैदा करने का एक रास्ता है। एक अच्छे इतिहासकार को कविता और कथा साहित्य पढ़ने का शौक होना चाहिए भले ही वह जासूसी या विज्ञान से संबद्ध साहित्य हो।

मै इस पक्ष का निष्कर्ष यह कहते हुए निकालता हूँ कि जीवन को समझने की बेहतर दक्षता बेहतर इतिहास रचती है और बेहतर इतिहास बेहतर जीवन बनाता है।

x) जीवन में किसी की स्थिति निश्चय ही उसकी इतिहास के चक्र की समझ और सामान्यीकरण करने की क्षमता पर असर डालती है। उदाहरण के लिए क्या कोई परिवर्तन के पक्ष में है या यथास्थिति के? और यदि वह परिवर्तन का आकांक्षी है तो किस तरह के परिवर्तन का? उदाहरण के लिए क्या वह जाति व्यवस्था से विश्वास करता है या पुरूषों की श्रेष्ठता पर? इसका मतलब यह नहीं कि किसी व्यक्ति का जीवन उसके इतिहास लेखन को निर्धारित करेगा; लेकिन उसके प्रभाव की प्रकृति इस बात से निर्धारित होगी कि वह उस मुद्दे के प्रति कितना जागरूक है।

1.8 सारांश

इस इकाई में हमने सामान्यीकरण के विभिन्न पहलुओं को जानने का प्रयत्न किया। हमारी समझ यह बनी कि सामान्यीकरण ऐतिहासिक कर्म का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। भले ही सामान्यीकरणों पर कई आपत्तियाँ हैं लेकिन सामान्य शब्द या अवधारणाओं के बिना लेखन संभव नहीं है। यह सामान्यीकरण पुरानी रचनाओं से निकलते हैं और वर्तमान रचनाओं के लिए आरंभिक बिंदुओं की तरह काम आते है। जैसे-जैसे काम बढ़ता है यह सामान्यीकरण की तरह बदल सकते हैं। फिर भी प्रत्येक स्थिति में इतिहासकार को सामान्यीकरण करने पड़ते हैं जो उनके तथ्यों और स्रोत सामग्री को समझने के आधार तैयार करते हैं।

1.9 अभ्यास

1) सामान्यीकरण क्या है? विभिन्न प्रकार के सामान्यीकरणों की चर्चा कीजिए।

2) क्या आप सोचते हैं कि इतिहास लेखन के लिए सामान्यीकरण आवश्यक है? सामान्यीकरण पर विभिन्न आपत्तियों की चर्चा कीजिए।

3) आपके कार्य की वह भिन्न अवस्थाएँ कौन सी होंगी जिनमें आप सामान्यीकरण करेंगे? अनुभवजन्य काम शुरू करने से भी पहले वह कौन से स्रोत होंगे जिनके आधार पर आप सामान्यीकरण का सकते हैं?

4) सामान्यीकरण करने की अपनी क्षमता को आप कैसे सुधार सकते हैं?

इकाई 2 कारण-कार्य संबंध

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

हर वैज्ञानिक जिज्ञासा क्यों के साथ शुरू होती है। तेल पानी पर क्यों तैरता है? भूकंप क्यों आते हैं? अकाल क्यों पड़ता है? इंग्लैड में जर्मनी से पहले औद्योगिकीकरण क्यों हुआ? भारत उपनिवेश क्यों बना? किसी न किसी रूप में सभी विषयों में 'क्यों' प्रश्न पूछा जाता है। इतिहास कोई अपवाद नहीं है। अन्य सामाजिक एवं प्रकृति विज्ञानों की तरह इतिहास कोई अपवाद नहीं है। अन्य सामाजिक एवं प्रकृति विज्ञानों की तरह इसे भी 'क्यों' प्रश्न का सामना करना होता है। जब इतिहासकार अतीत का अध्ययन कर रहे होते हैं तब भी वे यह समझने का प्रयत्न करते हैं कि कोई विशेष घटना क्यों घटी या क्यों नहीं घटी। उदाहरण के लिए वह पूछते हैं कि रोमन साम्राज्य का पतन क्यों हुआ? पहला विश्व युद्ध क्यों हुआ? रोमन साम्राज्य का पतन क्यों हुआ? अगस्त 1947 में ब्रिटिशों ने भारत को सत्ता का हस्तांतरण क्यों किया? गाँधी ने सत्याग्रह आंदोलन वापिस क्यों लिया? इस तरह इतिहास का लेखन क्यों प्रश्न से आरंभ होता है। फिर भी कई अन्य समाज विज्ञानों की तरह इतिहास सामान्यीकरणों पर ध्यान केंद्रित नहीं करता। वह घटनाओं की श्रेणी नहीं बताता लेकिन किसी विशेष घटना का विश्लेषण करता है। वि-उपनिवेशीकरण क्यों होता है या संस्कृतियों का पतन क्यों होता है, क्रांतियाँ क्यों होती हैं? जैसे प्रश्नों के स्पष्टीकरण देने के बजाय वह इस बात की जाँच करता है कि 1947 में ब्रिटिशों ने भारत क्यों छोड़ा; मिनोऑन लोगों की आबादी क्यों खत्म हो गई, समाजवादी क्रांति रूस में पहले क्यों हुई। दूसरे शब्दों में इतिहासकार किसी विशेष घटना के होने की व्याख्या करता है। किसी घटना को किसी सामान्य श्रेणी की आवृति की तरह देखने की जगह, अगर पैट्रिक गार्डिनर के शब्दों में कहें, तो वह उसे बेजोड़ विशिष्टता की तरह देखता है। परिणामस्वरूप वह उन आयामों पर ध्यान केंद्रित करता है जो किसी घटना से विशेषकर जुड़े हों और एक ऐसा विवरण प्रस्तुत करता है जो यह दर्शाता है कि कोई घटना उस समय क्यों घटी जब वह घटी।

2.2 कारण-कार्य संबंध क्या हैं?

भले ही किसी घटना को विशेष और अद्वितीय माना जाए, इतिहासकार फिर भी उसके होने की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। किसी घटना का विशेष घटना के तौर पर विश्लेषण न तो व्याख्या की प्रभाविकता को कम करता है और न ही सच प्रस्तुत करने के दावे का खंडन करता है। अन्य समाजविज्ञानियों की तरह इतिहासकार भी विचारणीय प्रक्रिया की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और ऐसा वह यह पता लगाने के बाद करते हैं कि घटना के होने का कारण

क्या था। कारणों की खोज, इस प्रकार, ऐतिहासिक विश्लेषण का केंद्र होती है। अठारहवीं शताब्दी तक दार्शनिक और इतिहासकार सामान्य तौर पर मानते थे कि कारण घटना से पहले घटित कोई घटना होनी चाहिए अर्थात जिस घटना की व्याख्या की जा रही है उससे पहले हुई कोई घटना ओर पहले हुई घटना को नियमित रूप से प्रभाव के साथ जोड़कर देखना चाहिए। हालाँकि जॉन एस. मिल के अध्ययन के अनुसार कारण को अब इस प्रकार नहीं देखा जाता बल्कि उसे किसी ऐसी परिस्थिति या परिस्थितियों के समूह के तौर पर देखा जाता है जो उस समय थीं जब घटना 'क' घटी और उस समय सदैव अनुपस्थित थीं जब 'क' नहीं धटित हुई।

दूसरे शब्दों में कारण एक परिस्थिति है जो किसी निश्चित घटना 'क' के घटने के लिए अनिवार्य भी है और पर्याप्त भी। इसे अनिवार्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसकी अनुपस्थिति का अर्थ प्रभाव 'क' की अनुपस्थिति होता है और यह पर्याप्त इसलिए है क्योंकि इसकी उपस्थिति निश्चित परिणाम 'क' देती है। यदि किसी अध्ययन से मालूम होता है कि विटामिन 'ए' की कमी से लोग रतौंधी के शिकार हो गए और उन सभी लोगों को, जिनमें विटामिन 'ए' पर्याप्त मात्रा में था रतौंधी नहीं हुई तो सभी बातें एक सी होने पर हम कह सकते हैं कि रतौंधी होने का कारण विटामिन 'ए' की कमी है। हम विटामिन 'ए' को कारण मान सकते हैं क्योकि अनुपस्थित का अर्थ रतौंधी या और इसकी उपस्थिति का अर्थ या प्रभाव अर्थात रतौंधी की अनुपस्थिति।

यहाँ तीन बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। पहली बात यह कि अनिवार्यता का संबंध महत्वपूर्ण रूप से पर्याप्तता के संबंध से अलग है। दूसरे, कारण को ऐसी परिस्थिति माना गया है जो अनिवार्य भी है और पर्याप्त भी। और तीसरे, स्थिर संयोग कार्य-कारण संबंध का पर्याप्त सूचक नहीं होता। किसी उदाहरण में हृदयाधात से किसी की मृत्यु हो जाती है तो हम कह सकते हैं कि हदय गति का रूक जाना वह परिस्थिति था जो प्रभाव को पैदा करने अर्थात मृत्यु के लिए पर्याप्त था। फिर भी निश्चयपूर्वक यह कहने के लिए कि किसी व्यक्त की मृत्यु के लिए हृदय गति का रूकना एक अनिवार्य परिस्थिति थी, हमें यह साबित करना होगा कि हृदयाघात की अनुपस्थिति का अर्थ प्रभाव अर्थात, मृत्यु की अनुपस्थिति होता। यदि मृत्यु यकृत की खराबी या रक्तस्राव जैसी किसी अन्य परिस्थिति के कारण हो सकती हो तो हदयाघात एक पर्याप्त परिस्थिति हो सकती है लेकिन उसे घटना अर्थात किसी की मृत्यु के होने के लिए अनिवार्य परिस्थिति नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति क्योंकि किन्हीं अन्य परिस्थितियों की उपस्थिति के कारण भी मर सकता था इसलिए हृदयाघात की अनुपस्थिति प्रभाव को रोक नहीं पाती। इसलिए जिस घटना की बात की जा रही है उसके लिए यह एक अनिवार्य परिस्थिति नहीं हो सकती। यहाँ जो बताया जा रहा है वह यह है कि अनिवार्यता का संबंध पर्याप्तता के संबंध से भिन्न है और विज्ञान के दर्शन में कारण को अनिवार्य तथा पर्याप्त, दोनों ही तरह की परिस्थितियों के रूप में देखा गया है।

यदि कारण एक अनिवार्य और पर्याप्त परिस्थिति है तो इसका अर्थ हुआ कि यह हर बार प्रभाव से संबद्ध होती है। अर्थात जब प्रभाव 'क' होगा तो कारण सदैव उपस्थित रहेगा और जब प्रभाव 'क' नहीं होगा तो सदैव अनुपस्थित रहेगा। इस तरह स्थिर संयोग कारण-कार्य संबंध की स्पष्ट रूप से दिखने वाली विशेषता है। इसके अलावा कारण परिस्थिति लगभग हमेशा ही प्रभाव की पूर्ववर्ती होती है। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई परिस्थिति जो घटना के होने से पहले हर बार देखी जाए उसका कारण होती है। स्थाई संयोग और स्थानिक निकटता किसी भी कारण-कार्य संबंध की विशिष्टताएँ जरूर हैं लेकिन कारण को केवल इसी आधार पर नहीं पहचाना जा सकता है। किसी रिकार्ड में गीत एक निश्चित क्रम में सुनाई देते हैं। फिर भी, जो गीत पहले होता है वह उसके बाद आने वाले गीत का कारण नहीं होता है। इसी तरह तूफान के आने से पहले हर बार बिजली का चमकना जरूर देखा जा सकता है लेकिन इसका

अर्थ यह नहीं है कि तूफान आने का कारण बिजली का चमकना है। यह संभव है कि बिजली का चमकना और तूफान दोनों ही किसी दूसरे ही कारण के दृष्टिगोचर प्रभाव हों। यहाँ जो रेखांकित करना आवश्यक है वह यह है कि नियमित संबंध ही अपने आप में यह दावा करने के लिए पर्याप्त है कि जो परिस्थिति पहले पाई गई वह उसके बाद आने वाली परिस्थिति का कारण है। यह बताने के लिए कि कोई बात किसी घटना का कारण है, हमें यह बताना चाहिए कि उसकी अनुपस्थिति उस घटना की भी अनुपस्थिति होगी।

इसी तरह घटनाओं को एक सही अनुक्रम में व्यवस्थित करना, किसी घटना का स्पष्टीकरण नहीं उपलब्ध करा सकता। किसी निश्चित दिन जो कुछ भी हुआ उसे हम एक सही समय-अनुक्रम में गिना सकते हैं पर उससे यह पता नहीं चल सकता कि घटना ~~रूक~~- क्यों घटी। उदाहरण के लिए एक के बाद एक घटी घटनाओं को साधारण तौर पर सूचीबद्ध करने से यह संकेत नहीं मिल सकता कि कोई व्यक्ति क्यों दुर्घटना का शिकार हुआ या क्यों बीमार पड़ा। हम यह जान सकते हैं कि कोई विशेष घटना कैसे घटी अर्थात जब दुर्घटना हुई तब घटनाओं का सिलसिलेवार क्रम जाना जा सकता है, लेकिन इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि दुर्घटना क्यों घटी या व्यक्ति गंभीर रूप से घायल क्यों हुआ। इसी तरह जनवरी 1947 से अगस्त 1947 तक घटी घटनाओं को इतिहासकार सही कालक्रम में रख सकते हैं लेकिन यह सब 1947 में ब्रिटिशों के भारत छोड़ने का स्पष्टीकरण नहीं दे सकते। एक बार फिर स्पष्टीकरण या 'क्यों' प्रश्न का उत्तर देने के लिए घटनाओं को एक के बाद एक सही क्रम में केवल सूचीबद्ध करने के अलावा किसी और बात की आवश्यकता भी होती है। कम से कम इस बात की आवश्यकता होती है कि हम यह समझाएँ कि किसी विशेष परिस्थिति की उपस्थिति ने, जो पहले आ चुकी हो, उस प्रभाव को पैदा किया और उस परिस्थिति की अनुपस्थिति का अर्थ उस घटना का न होना हो। संक्षेप में, कारण को पहचानना वस्तुओं या बातों को एक के बाद एक रखना नहीं है। हमें उस परिस्थिति का पता लगाने की आवश्यकता होती है जो अनिवार्य थी अर्थात वह परिस्थिति जिसके बिना घटना घटती ही नहीं।

2.3 सामाजिक विज्ञान और कारण-कार्य संबंध

प्राकृतिक विज्ञानों में शोधकर्ता अनिवार्य और पर्याप्त परिस्थितियों का पता लगाने के लिए नियंत्रित प्रयोग करते हैं। एक परिस्थिति को नियंत्रित और साध कर जबकि अन्य सभी परिस्थितियाँ वैसी ही रहें, वे उस असर का पता लगाते हैं जो उस परिस्थिति का घटना पर होता है। यदि परिस्थिति 'अ' को दूर करने से 'क' नहीं पाया जाता जबकि सभी कुछ वैसा ही रहता है, तो 'अ' को 'क' का कारण माना जा सकता है। सामाजिक विज्ञानों में नियंत्रित परिस्थितियों में प्रयोग संचालित करने के लिए यह हमेशा संभव नहीं है या यहाँ तक कि वांछनीय भी नहीं है। उदाहरण के लिए यदि हम किसी विशेष क्षेत्र में भड़की सांप्रदायिक हिंसा के कारण का विश्लेषण कर रहे हैं तो कोई नियंत्रित प्रयोग करना संभव नहीं है। जिस घटना का जिक्र किया जा रहा है, क्योंकि वह घट चुकी है, इसलिए उसके प्राकृतिक माहौल में प्रयोग संचालित नहीं किया जा सकता। प्रयोग का केवल किसी कृत्रिम परिस्थिति में या प्रयोगशाला में पुनःसृजन किया जा सकता है और वास्तव में यह संदेहास्पद होगा कि क्या हमें ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिए, जिनमें लोग एक-दूसरे को शारीरिक हानि पहुँचाए। इसके अलावा लोगों का ठीक-ठीक वैसा ही मिलता-जुलता समूह ढूँढना मुश्किल है जिसका आचरण दोहराया जा सके। इन सभी तर्कों के चलते नियंत्रित प्रयोग संचालित करना सामाजिक विज्ञानों में असंख्य समस्याएँ खड़ी करता है और इन विषयों के शोधकर्ता कार्य-कारण संबंध का पता लगाने के लिए इस तरीके पर भरोसा नहीं करते।

समाज विज्ञानी कारणों को जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा प्रतिपादित अन्वय प्रणाली और अनन्वय या व्यतिरेक प्रणाली का उपयोग कर पहचानते हैं। अन्वय प्रणाली में उन सभी परिस्थितियों की एक सूची बनाई जाती है जो घटना 'क' के कभी भी घटित होने पर उपस्थित रहती हैं। यह

प्रणाली उस परिस्थिति की पहचान स्थापित करती है जो 'क' के होने के सभी उदाहरणों में निरपवाद रूप से मौजूद रहती है। दूसरी ओर व्यतिरेक प्रणाली में उस परिस्थिति को खोजा जाता है जिसके संदर्भ में पूर्ववर्ती परिस्थितियों और प्रक्रियाओं में अंतर होता है। इसका अर्थ हुआ कि वह परिस्थिति जिसकी अनुपस्थिति उस घटना की अनुपस्थिति को स्पष्ट करती है। समाज विज्ञानी 'क' के घटने का कारण मालूम करने के लिए इन दोनों प्रणालियों को मिला देते हैं। वे कई सकारात्मक और नकारात्मक उदाहरणों का अध्ययन कर कारण का ठीक-ठीक पता लगाते हैं अर्थात् वह उदाहरण जिनमें रूक- प्रकार की घटनाएँ घटीं और वह परिस्थितियाँ जहाँ 'क' नहीं घटी। यदि उन सभी उदाहरणों में जिनमें 'क' घटना घटी परिस्थिति 'अ' हमेशा मौजूद थी और उन सभी उदाहरणों में जहाँ 'क' घटना नहीं घटी केवल परिस्थिति 'अ' अनुपस्थित थी, तो 'अ' को 'क' का कारण माना जा सकता है।

एक उदाहरण लेते हैं। यदि विश्लेषण स्पष्ट करता है कि सभी मामलों में जहाँ-जहाँ गुटवाद था, कांग्रेस चुनाव हारी और उन सभी राज्यों में जहाँ पार्टी गुटवादी राजनीति से मुक्त थी, उसने मतदाताओं का समर्थन प्राप्त किया, तो यह कहा जा सकता है कि पार्टी के चुनाव हारने का कारण गुटवाद था। यहाँ विपरीत उदाहरणों के अध्ययन से अर्थात वह मामले जहाँ कांग्रेस चुनाव जीती और वह राज्य जहाँ वह हारी, कार्य-कारण परिस्थिति की पहचान स्थापित की गई। बेशक यह मान के चला गया कि जिन राज्यों की तुलना की गई है उनमें केवल यही एक पक्ष भिन्न था और अन्य सभी मौजूदा परिस्थितियाँ प्रायः एक जैसी ही थीं। यदि उन राज्यों में जहाँ कांग्रेस निरंतर चुनाव हारती आई है या जहाँ विरोधी पार्टियों का मत प्रतिशत कई वर्षों से बढ़ता रहा हो, वहाँ गुटवाद पाया जाए तो गुटवाद को कारण नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत यदि उन राज्यों में जहाँ काँग्रेस चुनाव जीती, ग्रामीण जनता बड़ी मात्रा में संकेंद्रित है और पहले से ही इस बात के कुछ प्रमाण हों कि यह वह वर्ग है जो अतीत में कांग्रेस का समर्थन करते रहे हैं, तो एक बार फिर आसानी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गुटवाद ही चुनाव हारने का कारण है। और यदि वह राज्य जहाँ कांग्रेस चुनाव हारी, सांप्रदायिक हिंसा की चपेट में रहे हों, तो भी दोनों राज्यों में प्रारंभिक परिस्थितियों में विभिन्नता हमें यह निष्कर्ष निकालने से रोकेगी कि गुटवाद ही यहाँ कार्य-कारण संबंध के रूप में है। एक आम परिस्थिति का होना, जैसे पार्टी के भीतर गुटवाद का उन राज्यों में होना जहाँ वह चुनाव हारी और उसी परिस्थिति का उन राज्यों में न होना जहाँ वह जीती अपने-आप में यह दावा करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि मतदाताओं का समर्थन खोने का कारण गुटवाद है। चुनाव पूर्ण रूप से किन्हीं विभिन्न कार्य-कारण परिस्थितियों की वजह से जीते या हारे जा सकते हैं। इसलिए महत्वपूर्ण बात यह है कि तुलना की गई स्थितियों में अन्य सभी परिस्थितियों को बराबर होना चाहिए। यदि तुलना की गई स्थितियों में काफी अंतर हो तो किसी भी प्रकार की निश्चतता के साथ यह निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है कि कार्य-कारण संबंध क्या हैं।

उपर्युक्त चर्चा से यह बात सामने आती है कि सामाजिक विज्ञानों में कारण की पहचान ऐसी स्थितियों के अध्ययन से की जाती है जो अपनी पूर्ववर्ती परिस्थितियों के संदर्भ में समान हों लेकिन परिणाम या हो रही प्रक्रिया के संदर्भ में भिन्न हों। जब तुलनीय संदर्भ नहीं उपलब्ध होते हैं तब क्या होता है? क्या होता है जब हम समान घटनाओं का अध्ययन करते हैं और उन्हें समझने का प्रयास करते हैं? तब हम कारण की पहचान कैसे करते हैं? एक विकल्प के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि ऐसे सभी मामलों में कार्य-कारण परिस्थिति को पहचानने का कोई संतोषजनक तरीका नहीं है। वास्तव में इतिहास में विषय की विशिष्टता तथा जाँच-पड़ताल के उद्देश्य के कारण कई दार्शनिकों ने कहा कि हम कारणों की खोज करना छोड देते हैं। वे दावा करते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान सामान्यीकृत विज्ञान हैं। उनका उद्देश्य नियमों जैसे सामान्यीकरण खोजना होता है। इसकी तुलना में इतिहास उस घटना पर संकेंद्रित होता है जो विश्लेषित किए जा रहे मामले के लिए एकमात्र घटना हो। इसके अलावा प्राकृतिक विज्ञान प्रौद्योगिकीय नियंत्रण को बढ़ाने के लिए ज्ञान वृद्धि की खोज में रहते हैं। कारण केवल यह

स्पष्ट करने के लिए ही नहीं खोजे जाते कि कोई घटना क्यों घटी बल्कि उन परिस्थितियों का अनुमान लगाने के लिए भी खोजे जाते हैं जिनमें सदृश्य घटनाओं के होने की हम उम्मीद कर सकें और जो यह सुनिश्चित करने के लिए नियंत्रित या बनाई जा सकें या बदली जा सकें कि उक्त घटना न घटे। दूसरी ओर इतिहास यह समझने का प्रयास करता है कि कोई घटना क्यों घटी। इतिहास किसी प्रक्रिया का अर्थ निकालने का प्रयास उस अर्थ को पहचानते हुए करता है जो इतिहास की दृष्टि से परिभाषित किसी दिए गए संदर्भ में था। इसका लक्ष्य क्योंकि संप्रेषण और पारस्परिक प्रक्रिया को बढ़ाना है इसलिए यह एक भिन्न अभिरूचि ज्ञान द्वारा विकसित होता है और इसलिए एक अलग प्रणाली पर निर्भर रहता है। किसी प्रभाव को पैदा करने या उसका कारण बनने वाली किसी परिस्थिति को पहचानने के स्थान पर यह घटना को एक विशिष्ट विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर उसे सार्थक बनाता है। दूसरे शब्दों में यह जीवन, अभिव्यक्ति और किसी ऐतिहासिक विश्वदृष्टि के बीच संबंध खोजता है और किसी घटना की व्याख्या करने की बजाय उसे समझता है।

यहाँ इस बात पर बल देना आवश्यक है कि किसी एक घटना या एक बार होने वाली घटना का कारण सुनिश्चित करना गंभीर चुनौती खड़ी करता है। जो इतिहासकार जाँच-पड़ताल के कारणात्मक तरीके के महत्व और प्रासंगिकता की पुष्टि करते हैं, वे कारण की धारणा का पुनर्निधारण कर इस चुनौती का सामना कर चुके हैं। वे विशेष रूप से व्याख्या या स्पष्टीकरण को पूर्वकथन से अलग करने के प्रयास कर चुके हैं और तर्क देते हैं कि कारण का संबंध उस परिस्थिति से है जो किसी निश्चित स्थिति को विशिष्टता प्रदान करती है। हालाँकि कारण को पहले इस कथन से जोड़ा गया कि जब भी 'क' हो तो 'ख' होता है। यह दावा किया जाता है कि कारण 'क' ही किसी घटना 'घ' या 'घ' प्रकार की सभी घटनाओं की व्याख्या करता है। यह कहना कि कारण ही यह दर्शाता है कि कोई विशिष्ट घटना किसी प्रदत्त समय और स्थान पर क्यों घटी, यह सुझाया जा रहा होता है कि इतिहासकार उस परिस्थिति को खोजते हैं जो उन स्थितियों में आवश्यक थी। कहा जा सकता है कि वह एकमात्र कारण का उल्लेख कर रहे होते हैं।

2.4 इतिहासकार और कारण-कार्य संबध

कारणात्मक वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए इतिहासकार व्याख्या को भविष्यवाणी से अलग करते हैं। वह तर्क देते हैं कि संपूर्ण व्याख्या सही-सही भविष्यवाणी के लिए आवश्यक नहीं है। दरअसल इतिहास के कई दार्शनिक मानते हैं कि व्याख्या और भविष्यवाणी दो अलग प्रकार की क्रियाएँ हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के प्रमाणों और तर्कसंगति का समावेश होता है। भविष्यवाणी या पूर्वकथन क्रम की नियमितता और पुनरावृति को मानता है। हम कह सकते हैं कि कल सूरज पूर्व से निकला था और कल भी निकलेगा क्योंकि हम जानते हैं कि ब्रह्मांड की संरचना और नियम जिनसे वह संचालित होता है बगैर परिवर्तन कायम रहेंगे। यह पूर्वधारणा है कि आज देखी गई संरचनाओं और नियमितताओं की पुनरावृति होगी जिससे हम भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वानुमान लगा सकते हैं। फिर भी यह पूर्वधारणा कारण-कार्य संबंधों को तय करने के लिए असंगत है। हम तब भी उचित परिशुद्धता से मालूम कर सकते हैं कि घटना 'घ' के घटने का क्या कारण था, जब घटना 'घ' एक ही बार घटी हो या अद्वितीय विशिष्ट हो। किसी ऐसी पूर्वकल्पना की अनुपस्थिति में कि सामाजिक यथार्थ अपरिवर्तित रहेगा और मौजूदा संरचनाएँ बार-बार बनेंगी, हम यह दावा नहीं कर सकते कि जब भी 'क' घटेगा 'घ' भी उसके बाद धटित होगा।

यहाँ व्याख्या और भविष्यवाणी के बीच फर्क किया गया है। विज्ञान के अनुभववादी सिद्धांतों में व्याख्या और अनुमान एक-दूसरे से अविभाज्य ढंग से जुड़े हैं। निश्चय ही एक को दूसरे का कारण माना गया है। जब यह कहा जाता है कि 'क' किसी घटना 'घ' का कारण (आवश्यक एवं पर्याप्त परिस्थिति) है तो यह भी सुझाया जा रहा होता है कि जब भी 'क' मौजूद होगा

तब 'घ' आवश्यक तौर पर घटित होगा। और इसके उलट एक सफल अनुमान को किसी व्याख्या की सटीकता का सूचक माना गया है। इस तरह व्याख्या और अनुमान को एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह देखा गया है। इतिहास में विशेषकर व्याख्या और अनुमान के इस प्रस्तावित संबंध पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है। यहाँ यह तर्क दिया गया है कि कारणात्मक खोज और व्याख्याएँ अनुमान लगाने की क्रिया से अलग हैं। सम्पूर्ण व्याख्या भी किसी सफल अनुमान को जन्म नहीं देती और इसके विपरीत कोई सफल अनुमान दी गई व्याख्या के सत्य और सटीक होने का सूचक नहीं होता। हम आसमान में काले बादलों को देखकर सही-सही अनुमान लगा सकते हैं कि अगले 12 घंटों में बारिश होगी। पर यहाँ एक सफल अनुमान लगाने से हमें यह पता नहीं चलता कि घटना क्यों घटी। इसी तरह किसी बच्चे के चेहरे पर लाल दाने देखने पर हम सही-सही अनुमान लगा सकते हैं कि उसे खसरा हुआ है। लेकिन एक बार फिर सही अनुमान लगाना इस बात का सूचक नहीं है कि हम खसरे के होने की पर्याप्त व्याख्या कर सकते हैं। इसलिए अनुमान लगाने की कार्यवाही व्याख्या से भिन्न है और इतिहासकार भले ही अनुमान न लगा सकें, वह फिर भी किसी घटना के घटित होने की पूरी व्याख्या कर सकते हैं।

व्याख्या को अनुमान से अलग करके इतिहासकार न केवल प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रयुक्त व्याख्या के 'सामान्य नियम प्रतिदर्श' को चुनौती देते हैं, बल्कि वह कार्य-कारण संबंध को पुनर्परिभाषित भी करते हैं। कारण को एक अनिवार्य तथा पर्याप्त परिस्थिति समझने के स्थान पर वे उसे ऐसी परिस्थिति के रूप में देखते हैं जो दी हुई स्थितियों में अनिवार्य हो। कारणात्मक परिस्थिति को दी गई स्थितियों में आवश्यक परिस्थिति के तौर पर देखने की जरूरत पर इस बोध के बाद और जोर दिया जाने लगा कि अधिकांश ऐतिहासिक घटनाएँ अधिक नियत होती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वह एक से अधिक कारणात्मक परिस्थितियों की उपस्थितियों से जानी जाती हैं। क्योंकि इनमें से हरेक परिस्थिति अकेले ही वही परिणाम प्राप्त कर सकती थी, विश्लेषक किसी एक परिस्थिति को पूर्णता के साथ आवश्यक नहीं बतला सकते। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह परिस्थिति दी गई स्थितियों में आवश्यक थी।

एक उदाहरण की मदद से मैं इसे और आगे समझाती हूँ। यदि हम यह जानते है कि दंगाई भीड़ विधानसभा भवन को जलाने के इरादे से उसकी ओर बढ़ रही है और उसी समय उस भवन पर बिजली भी गिर सकती है जिससे वह पूरी तरह जल सकता है। तब हम यह नहीं कह सकते कि भवन के जलने की आवश्यक और पर्याप्त परिस्थिति कौन सी थी। विधानसभा भवन को हिंसक भीड़ भी जला सकती थी और उस पर गिरने वाली बिजली भी। अगर भीड़ ने इस कार्यवाई की योजना न बनाई होती तो बिजली गिरने से भवन जल जाता और इसके विपरीत अगर भवन पर बिजली नहीं भी गिरी होती तो भी हिंसक भीड़ ने यही परिणाम प्रस्तुत किया होता। अतः एक परिस्थिति की अनुपस्थिति प्राप्त प्रभाव की अर्थात् भवन के जलने की अनुपस्थिति दर्ज नहीं करती। ऐसी स्थितिओं में, जो दो या दो से ज्यादा परिस्थितियों की उपस्थिति, जो एक से ही परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं, उनमें हम आवश्यक क्षण की पहचान नहीं कर सकते। जो कुछ हम कर सकते हैं वह यह बताना है कि किस परिस्थिति ने पहले असर किया। अगर भीड़ के काम करने से पहले बिजली गिर गई हो तो हम कह सकते हैं कि दी गई स्थितियों में बिजली गिरना ही आवश्यक परिस्थिति थी।

वे परिस्थितियाँ जिनका इतिहासकार विश्लेषण करते हैं, कहा जाता है कि वे एक प्रकार की होती हैं। अद्वितीय और अक्सर अधिक नियत होने की वजह से शोधकर्ता केवल उस परिस्थिति को पहचान सकता है जो दी गई स्थितियों में आवश्यक प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए उपनिवेशों से मुक्ति की प्रक्रिया की मौजूदा समझ और उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर इतिहासकार यह नतीजा निकाल सकते हैं कि ब्रिटिश राज के खिलाफ़ लोकमत का इज़हार और भुगतान संतुलन के बिगड़ते हालात की वजह से औपनिवेशिक शक्तियों का भारत में रहना मुश्किल हो गया था। ब्रिटिश सेना का आकलन और उनके इस क्षेत्र में हितों ने भी भारतीयों

को सत्ता हस्तांतरण करना फ़ायदेमंद दर्शाया। क्योंकि यह सभी परिस्थितियाँ उस एक ही दिशा की ओर ले जाती रही थीं जिसे हम अंग्रेजों के भारत छोड़ने का कारण मान सकते हैं और विशेषकर अंग्रेजों का अगस्त 1947 में भारत से जाना। इतिहासकार इस प्रश्न का जवाब देने के लिए उस परिस्थिति पर अपनी उँगली रखना चाहता है जिसकी वजह से विशेष फर्क पड़ा हो। इस बात का निर्धारण करने के लिए कि उनमें से किस परिस्थिति को अंग्रेज सबसे अधिक अर्थवान मानते थे, उपलब्ध दस्तावेजो की मदद ली जाती है और यह भी देखा जाता है कि किस परिस्थिति ने इस प्रकार का दबाव बनाया जो प्रशासन के लिए सबसे अधिक कष्टकर रहा और जो उस समय अव्यावहारिक भी था।

किसी परिस्थिति में आवश्यक कारण की स्थिति जानने के लिए उस मामले के भीतर से ही प्रमाण प्राप्त किए जाते हैं। इससे पहले लगभग वैसी ही घटित परिस्थितियों के साथ तुलना की जाती है और विभिन्न कर्ताओं के कार्यों और विचारों का इस्तेमाल विभिन्न मौजूदा परिस्थितियों के सापेक्ष महत्व का मूल्यांकन करने के लिए किया जाता है। वस्तुगत परिस्थितियों और मनोगत तर्कों का ताना-बाना यह जानने के लिए बुना जाता है कि वास्तविक फर्क किससे पड़ा। क्योंकि अधिकांशतः ऐतिहासिक विश्लेषणों में कर्ताओं के कार्यो और उद्देश्यों तथा उस समय प्रभाव डाल रही बाह्य परिस्थितियों को आधार बनाया जाता है, इसलिए कभी-कभी कहा जाता है कि इतिहासकार किसी घटना या प्रक्रिया को जिस तरह वह हुई उसी तरह वर्णित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहासकार जो हुआ और जैसे हुआ उसका विश्लेषण करके 'क्यों हुआ' का उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं। इस बारे में दो बातें कहनी आवश्यक हैं। पहली, जैसे पहले कही गई थी कि घटनाओं को क्रमवार रख देने भर से किसी घटना की व्याख्या नहीं हो जाती। इसलिए किसी कहानी का आरंभ, मध्य और अंत बतला देना काफी नहीं है। कम से कम इतिहासकार को चाहिए कि वह उन बाह्य भौतिक संरचनाओं के मेल की पहचान करे जिनके भीतर किसी विशेष गतिविधि का जन्म होता है, वह घटित होती है और जिनके भीतर ही विशेष नतीजे भी निकलते हैं। दूसरी बात जो सबसे अधिक महत्व की है वह यह है कि सभी संभावित परिस्थितियों और गतिविधियों के दायरों का विस्तृत वर्णन किसी कार्य-कारण व्याख्या को जन्म नहीं दे पाता। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम उस परिस्थिति को जानें जो कम से कम उस स्थिति में आवश्यक थी।

अतः साधारण कथा कहने और किसी ऐतिहासिक घटना के कारणों के विश्लेषण के बीच अंतर यह है कि ऐतिहासिक घटना कथा कहने से अलग उस बात पर ध्यान केंद्रित करती है कि किस बात ने प्रभावी असर डाला। वह विभिन्न क्षणों को केवल इसलिए एक-दूसरे से नहीं जोड़ता कि कुछ अर्थ निकल सकें बल्कि उससे एक कदम आगे जाता है। वह उस परिस्थिति की खोज करता है जिसकी अनुपस्थिति में वह घटना जिस विशिष्ट क्षण में वह घटित हुई उसमें नहीं घटी होती। दूसरे शब्दों में वह आवश्यक क्षण की पहचान करता है। यह आवश्यक क्षण एक परिस्थिति भी हो सकती है और परिस्थितियों के जटिल समूह में से उसके कुछ अंश भी हो सकते हैं। 1947 में सत्ता के हस्तांतरण के मामले का विश्लेषण करते हुए कोई इतिहसकार यह तर्क दे सकता है कि नौ सेना में हुए विद्रोह से विशेष असर पड़ा। तात्पर्य यह कि वह कारण परिस्थिति थी, वह आवश्यक क्षण जिसकी अनुपस्थिति में उस समय सत्ता का हस्तांतरण नहीं हुआ होता। इसके अलावा कोई इतिहासकार यह भी तर्क दे सकता है कि नौ सैनिक विद्रोह जन आंदोलन की श्रृंखला की वह आवश्यक घटना थी जिसके साथ सभी आंदोलनों ने मिलकर एक परिणाम उपस्थित किया जिसे हम सत्ता के हस्तांतरण का नाम दे सकते हैं।

जब इतिहसकर दूसरे विकल्प को स्वीकार करते हैं तो वह उसे कारण को 'अआअप' परिस्थिति के तौर पर प्रभावित करते हैं। अर्थात उस कारण को ऐसी परिस्थिति माना जाता है जो **अपर्याप्त** है लेकिन **आवश्यक** क्षण है, उन परिस्थितियों की श्रृंखला में जो **अनावश्यक** तो है लेकिन घटना को जन्म देने के लिए **पर्याप्त** हैं। इसे थोड़ा और समझा जाए। नौ सेना

में हुए विद्रोह को कारण बतला कर इतिहासकार केवल इतना कहना चाह रहा है कि वह विशिष्ट प्रभाव डालने वाली घटना थी। अगर यह घटना न घटी होती तो 1947 में सत्ता का हस्तांतरण नहीं हुआ होता। इसके आगे कहा जा सकता है कि नौ सेना विद्रोह का यह परिणाम भारत छोडो आंदोलन और किसान आंदोलन जैसे जन आंदोलनों के संयुक्त प्रभाव से ही संभव हुआ। इन सबने मिलकर न्यूनतम पर्याप्त परिस्थितियों का एक मिश्रण उत्पन्न किया और इस मिले-जुले कारणों में नौ सैनिक विद्रोह ही आवश्यक घटना थी। फिर भी इन मिले-जुले कारणों को उस घटना (सत्ता के हस्तांतरण) के लिए आवश्यक नहीं माना जा सकता। अगर यह परिस्थिति न होती तो भी खराब भुगतान संतुलन या अपने सामरिक हितों की गणना की वजह से भी अंग्रेज भारत छोड देते, भले ही ऐसा अगस्त 1947 में नहीं होता। परिणामस्वरूप जन आंदोलनों को ऐसा मिश्रित कारण नहीं माना जा सकता जो अंतिम रूप से आवश्यक होता। जो कुछ हम विश्वास के साथ कह सकते हैं वह यह कि प्रदत्त परिस्थितियों में ऐसा परिणाम प्राप्त करने के लिए यह पर्याप्त था। इस तरह उन विभिन्न परिस्थितियों के मिश्रण में विद्रोह आवश्यक क्षण था जिनका मिला-जुला स्वरूप अनावश्यक था। वही घटना किन्हीं अन्य परिस्थितियों के समूह से भी उत्पन्न हो सकती थी लेकिन इस बार अन्य जन आंदोलनों के साथ नौ सैनिक विद्रोह इसके लिए, अर्थात् भारत को सत्ता हस्तांतरण के लिए पर्याप्त साबित हुआ ।

जिस बात को यहाँ दोहराया गया है वह यह है कि इतिहासकार कार्य-कारण के विचार को पुनःपरिभाषित करते हैं। किसी कारण को आवश्यक और पर्याप्त मानने के बजाय वह उसे 'अआअप' परिस्थिति या ऐसी परिस्थिति मानते हैं जो उन हालात में आवश्यक हो। कार्य-कारण विचार को इस रूप में इसलिए देखा गया क्योंकि जिन घटनाओं के साथ उनका संबंध होता है वह अद्धितीय घटनाएँ होती हैं जो उन संयोगों से उत्पन्न जान पड़ती हैं जो उस संदर्भ के लिए विशिष्ट हों। संदर्भ स्वयं ही विभिन्न परिस्थितियों की उपस्थिति से बनता है जिनमें से हर एक वैसा ही परिणाम उत्पन्न कर सकती है, भले ही उसी तरह से और उसी समय यह ऐसा न कर पाएं, हालाँकि कार्य-कारण की पुनर्परिभाषा से जाँच की व्याख्यात्मक क्षमता प्रभावित नहीं होती। दूसरे शब्दों में कहें तो भले ही कारण की परिस्थिति उस हालत में या अन्य परिस्थितियों से मिलकर आवश्यक ही मानी जाती है फिर भी वह यह तो स्पष्ट करती है कि क्या घटित हुआ और वह क्यों घटित हुआ। लेकिन वह हमें यह अनुमान लगाने में मदद नहीं करती कि वैसी ही परिस्थितियों में कुछ अंश तक क्या घटित हो सकता है, लेकिन वह उस घटना को समझाने में हमारी मदद करती है जो घटित हो चुकी हो।

कारण को जब परिस्थितियों के जटिल मेल के आवश्यक क्षण या किन्हीं स्थितियों में आवश्यक परिस्थिति के तौर पर परिभाषित किया जाता है तो यह माना जाता है कि इतिहासकार मात्र यह समझाना चाह रहा है कि घटना 'क' उस क्षण ही क्यों घटी। यह व्याख्या अपने में पूर्ण है और घटना के हो जाने के बाद प्रस्तुत की गई है और इस व्याख्या से आवश्यक नहीं कि कोई भविष्यवाणी की जा सके। जे. एल. आरनसन द्वारा दिए गए एक उदाहरण को लेते हैं : "माना जाए कि हमारे पास किसी पटल पर बल क्षेत्र से गोलियाँ चलाने वाली बंदूक है, बल क्षेत्र की विशेषता है कि वह उन बल मार्गों से बना है जो समय के साथ पूर्णतया बेतरतीब ढ़ंग से बदलते हैं।" इस स्थिति में हम पहले से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि गोली कहाँ जाएगी, लेकिन एक बार जब गोली परदे पर जा लगती है तब हम समझा सकते हैं कि वह उस जगह कैसे पहुँची। हम घटना के बाद गोली की गति, उन कोणों पर जिनमें परदे पर गोली लगने के समय वेक्टर रहे होंगे, बंदूक की स्थिति-स्थान, घर्षण और अन्य प्रभावित करने वाले तत्वों की जाँच कर सकते हैं और इनके अधार पर समझा सकते हैं कि गोली परदे के 'प' बिन्दु पर कैसे पहुँची। दिया गया स्पष्टीकरण अपने में वहाँ तक पूर्ण है जहाँ तक वह क्यों प्रश्न का संतोषजनक उत्तर देता है, लेकिन वह हमें यह अनुमान लगाने में मदद नहीं कर पाता कि अगली गोली परदे पर कहाँ लगेगी।

ऐतिहासिक व्याख्याएँ अक्सर एक ही तरह की होती हैं। वह यह तो पूरी तरह से समझाती हैं कि क्या हुआ और क्यों हुआ, लेकिन अधिकांशतः भविष्यवाणी नहीं करती। कार्य-कारण संबंधों में नियम निहित हो सकते हैं, लेकिन इतिहासकार न तो इन नियमों को खोज निकालता है न ऐसा करना अपना काम समझता है। ऐतिहासिक विवरण किन्हीं सामान्य नियमों को खोज करने का लक्ष्य नहीं रखते और जो कार्य-कारण संबंध वह बतलाते हैं उन्हें भविष्यवाणियों से भिन्न समझना चाहिए। यह तथ्य कि वह कोई भविष्यवाणी या नियमों की ओर संकेत करना नहीं चाहते और जिन आरंभिक स्थितियों में वह संचालित होते हैं उनसे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि वह आँशिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत कार्ल हेम्पेल और समाज विज्ञान के अन्य पोजिटिविस्ट दार्शनिकों ने जिस 'कवरिंग लॉ मॉडल' का उपयोग किया उसमें तर्क यह है कि इतिहासकार एकमात्र कारण वाले दावे के माध्यम से जो घटित हुआ उसकी पूरी व्याख्या करता है।

यहाँ इस स्पष्टीकरण की आवश्यकता है कि यह एकमात्र कारण नियम अन्य कारणों और उद्देश्यों से संबद्ध व्याख्याओं से भिन्न हैं। घटनाएँ जो इतिहासकार पढ़ते हैं उदाहरणार्थ विद्रोह, लड़ाइयाँ, शाँति समझौते, आंदोलन और तख्तापलट आदि - वह सभी लोगों और समूहों की कार्यवाहियों के परिणाम हैं। इन घटनाओं का अध्ययन करते हुए इतिहासकार अधिकांशतः कर्ताओं के इरादों और प्रेरणाओं का खाका खींचते हुए क्या घटा और क्यों घटा इसका अर्थ निकालते हैं। उदाहरण के लिए असहयोग आंदोलन को वापस लिए जाने को वह गाँधी के इरादों के संदर्भ में समझाते हैं। जिन कारणों को वह स्वीकार करते हैं वह कई बार वह होते हैं जो कर्ता स्वयं घोषित करते हैं या फिर वह होते हैं जो या तो उन उद्देश्यों से निकाले जा सकते हैं जो कर्ता घोषित करते हैं या जो उद्देश्य कर्ताओं के साथ तर्कसंगत तरीकें से जोड़े जा सकते हैं। प्रासंगिक कारण की पहचान करने का आधार जो भी हो उसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि घटनाओं को केवल बाहरी विश्व में घटित घटनाओं की तरह नहीं देखा जाता बल्कि उन्हें किन्हीं विशेष कर्ताओं की उन कार्यवाहियों की तरह देखा जाता है जिन्हें उनके उद्देश्यों, प्रेरणाओं और तर्कों को स्पष्ट करने से समझाया जा सकता है। ऐसी तर्क-कार्य व्याख्याएँ अक्सर कारण व्याख्याओं की तरह देखी जाती हैं और तर्को को कारणों से मिला कर देखने की घालमेल की जाती है। ऐसा दिखाई पड़ता है कि उद्देश्यों, प्रेरणाओं और कार्यो से संबंध जोडकर तर्क उसी तरह व्याख्याएँ करते हैं जैसे कारण व्याख्याएँ किसी कारण को प्रभाव से जोड़कर देखती हैं, फिर भले ही धारणाओं और उद्देश्यों को अक्सर किसी घटना को जन्म देने वालों की तरह देखा जाता है। यह याद रखना आवश्यक है कि तर्क सही प्रकार के कारण नहीं होते।

कार्य-कारण स्पष्टीकरण में कारण वह बाह्य स्थितियाँ होती हैं जो भौतिक जगत में काम करती हैं और कारण का प्रभाव के साथ सतत् संबंध होता है। इसकी तुलना में तर्क आंतरिक रूप से जुड़े होते हैं तथा तर्को और कार्यो का संबंध तार्किक होता है। उदाहरण के लिए जब हम यह समझाते हैं कि 'क' ने 'ख' की हत्या प्रतिशोध के लिए की तो हम उद्देश्य यानी तर्क और कार्य यानी हत्या के बीच एक आंतरिक संबंध देखते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि हत्या का कारण प्रतिशोध मानने के लिए हमें पहले के कारण दूसरे के होने के बारे में अधिक तर्क देने की ज़रूरत नहीं पड़ती जबकि यह दर्शाने के लिए कि उस अमुक व्यक्ति ने हत्या की और उसका अमुक उद्देश्य हो सकता था, उद्देश्य और कार्य के बीच के संबंध को किसी बाह्य पुष्टि की आवश्यकता नहीं है। निश्चय ही कोई भी कार्य किसी उद्देश्य को लेकर होता है और यह उद्देश्य यह मानने के लिए अच्छा तर्क है कि उसने यह काम किया होगा। इसी तरह जब हम कहते हैं कि किसी हड़ताल के वापस लेने की वजह जन समर्थन का अभाव था, तब कार्यवाही और कारण के बीच एक आंतरिक संबंध देखा जाता है, और यह देखा गया संबंध तार्किक व्यवहार की अवधारणा पर आधारित है। यह धारणाओं की ऐसी पृष्ठभूमि की कल्पना करता है जो की गई कार्यवाही को जन्म देती है। उदाहरण के लिए अपने सदस्यों के बीच समर्थन

कम होते जाने की वजह से हड़ताल वापस लेने का निर्णय यह मानकर होता है कि नेतृत्व ने हड़ताल के विफल हो जाने से पहले ही उसे वापस लेना ठीक समझा या उन्होंने हड़ताल वापस लेना इसलिए बेहतर समझा कि वह अबतक प्राप्त लाभ को भी कहीं गवाँ न दें। हितों के ऐसे तार्किक आकलन कार्य-कारण विश्लेषण का ही एक अंश है लेकिन ऐसे अनुमानों को उन प्रारंभिक परिस्थितियों की तरह नहीं माना जाता और न माना जाना चाहिए जिनके तहत कुछ नियम काम करते हैं।

कार्य-कारण विश्लेषण की प्रकृति उद्देश्यपरक होती है। यहाँ जिस इच्छित अंतिम अवस्था को किसी कार्य से प्राप्त करना होता है, वही उद्देश्य या कारण भी होती है। इसलिए यह तार्किक रूप से कार्यवाही के पहले होता है। दूसरी ओर कार्य-कारण संबंध में प्रभाव कारण के बाद आता है, अर्थात वह कारण परिस्थिति के बाद आता है और कुछ संबद्ध परिस्थितियों की वजह से उसका अनुसरण करता है। इतिहासकार कारण विश्लेषण देते हुए उन परिस्थितियों के समूह की पहचान करते हैं जो संयुक्त रूप से वांछित प्रभाव उत्पन्न करते हैं : इस सामूहिकता के भीतर वह किसी एक ऐसी परिस्थिति की पहचान करते हैं जिसने निर्णायक प्रभाव डाला हो। ऐसे विश्लेषण तर्क पर आधारित विश्लेषणों से और प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रयुक्त विधि प्रतिदर्शों से भी भिन्न होते हैं। इसके अलावा जैसा कि पहले कहा गया है, ये व्याख्याएँ हमें यह बतलाती हैं कि कोई विशेष घटना किसी विशेष समय में क्यों घटी। दूसरे शब्दों में यह ऐकिक कारणात्मक वक्तव्य है जो भावी घटनाओं की भविष्यवाणी नहीं करते बल्कि उनकी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। इन विश्लेषणों में अनुमानों की सापेक्ष अनदेखी इन्हें न तो कमजोर बनाती है और न ही अपर्याप्त। दिये गये विश्लेषण अपने में पूर्ण होते हैं और उनके सत्य पर इतिहासकारों का समुदाय उपलब्ध प्रमाणों और दस्तावेजों के आधार पर बहस कर सकते हैं।

2.5 सारांश

अन्य समाज विज्ञान के विषयों की तरह इतिहास भी उन कारणों की तलाश करता है जो विभिन्न प्रक्रियाओं को जन्म देते हैं। ऐतिहासिक विश्लेषण में कारणों की खोज महत्वपूर्ण है। यह कारण वह विशेष घटनायें नहीं हैं जो किन्हीं अन्य ऐसी घटनाओं के पहले घटी हों जिनके कारण पहले वाली घटना में पाये जाते हैं। इसके विपरीत कारण परिस्थितियों के उस समूह के तौर पर देखे जाते हैं जिनके तहत विशेष घटनाएँ घटती हैं। यह परिस्थितियाँ किसी विशेष घटना के होने के आवश्यक और पर्याप्त आधार मुहैया कराती हैं। फिर भी प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न इतिहास में कारणों की खोज प्रयोगशाला जैसे नियंत्रित वातावरण में नहीं की जा सकती। इसके बजाय समाज विज्ञानी किसी घटना के होने की समान या विभिन्न परिस्थितियों की तलाश करते हैं। दूसरे शब्दों में वे किसी घटना के होने के समय उन परिस्थितियों को खोजते हैं जो उस समय उपस्थित और अनुपस्थित थीं। इन सबके अलावा कारण किसी प्रक्रिया के होने को समझाता है, उसकी भविष्यवाणी नहीं करता।

2.6 अभ्यास

1) कारण-कार्य संबंध क्या है? किसी घटना या प्रक्रिया को समझाने में वह कैसे प्रयुक्त होता है।

2) किसी प्रक्रिया के कारण जानने की समाज विज्ञानियों और प्रकृति विज्ञानियों की विभिन्न पद्धतियों की चर्चा कीजिए।

3) किसी घटना के होने की व्याख्या और उसके कारण-कार्य संबंध स्थापित करने के लिए इतिहास में प्रयुक्त पद्धति की चर्चा कीजिए।

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

जी.इ.एम. आन्सकोम्ब, 'कॉज़ेलिटी एंड डिटरमिनेशन' इ. सोसा (संपादित) *कॉज़ेशन एंड कंडीशनल्स* (ऑक्सफोर्ड, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1975)।

जे. एल. आरन्सन, *रिएलिस्ट फ़िलोसॉफ़ी ऑफ़ साइन्स* (लंडन, मैक्मिलन, 1984)।

इसिया बर्लिन, *कॉन्सेप्ट्स एंड कैटेगरी* (ऑक्सफोर्ड, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1980)।

विल्हेल्म डिल्थी, *इंट्रोडक्शन टु द ह्युमन साइंसेज़* (अनूदित और संपादित एच.पी. रिकमेन), (कैम्ब्रिज़, कैम्ब्रिज़ युनिवर्सिटी प्रेस, 1988)।

डब्ल्यु.एच. ड्रे, *लॉज़ एंड एक्सप्लेनेशन्स इन हिस्ट्री* (ऑक्सफ़ोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस, 1970)।

पैट्रिक गॉर्डिनर, *द नेचर ऑफ़ हिस्टोरिकल एक्सप्लेनेशन* (ऑक्सफ़ोर्ड, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1961)।

एम. गिन्सबर्ग, 'कॉजेलिटी इन सोशल साइंस', *एरिस्टोटेलियन एस.एच.एल.ए की कार्यवाही* हार्ट एंड ए.एम. होनोरे, *कॉजेशन इन द लॉ* (ऑक्सफोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस 1973)।

कार्ल जी. हैम्पेल, 'द फ़क्शन ऑफ़ लॉज़ इन हिस्ट्री', पी. गार्डिनर (संपादित) *थ्योरीज़ ऑफ़ हिस्ट्री* (न्यू यार्क, द फ्री प्रेस, 1959)।

जे.एल. मैकी, 'कॉज़ेज़ एंड कंडीशन्स', इ.सोसा (संपादित), *कॉज़ेशन एंड कंडीशनल्स* (ऑक्सफ़ोर्ड, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1975)।

जॉन एस. मिल्स, रचनावली, खंड आठ : *ए सिस्टम ऑफ़ लॉजिक रेशियोसिनेटिव एंड इंडक्टिव,* ग्रंथ 1-3, (संपादन जे.एम.रॉबसन, टोरंटो, टोरंटो विश्वविद्यालय प्रेस, 1978)।

गिल्बर्ट राइल, *द कॉन्सेप्ट ऑफ़ माइंड,* (हार्मंड्सवर्थ, पैंग्विन बुक्स, 1980)।

रोबर्ट के. शोप, 'एक्सप्लनेशन इन टर्म्स ऑफ़ द कॉज़', *जर्नल ऑफ़ फिलोसोफ़ी,* खंड LXIV/10, pp. 312-320, 1967।

विल्हेल्म विंडेलबांड, 'ऑन हिस्ट्री एंड नेचुरल सांइसेज़', रेक्टोरियल अभिभाषण, स्त्रासबुर्ग, 1984, (अनुवाद गी ओक्स), *हिस्ट्री एंड थ्योरी,* 19/2, 169-85, 1980।

इकाई 3 वस्तुपरकता और व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

सदियों से वस्तुपरकता का सिद्धांत पश्चिमी इतिहास लेखन का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। दरअसल, यह वह आधार है जिस पर इतिहास लेखन की इमारत खड़ी हुई है। पश्चिमी देशों में प्रारंभिक काल से ही इतिहासकारों को विश्वास था कि अतीत के विषय में उनका लेखन वस्तुपरक और यथातथ्यात्मक है। इस धारणा को चुनौती देते हुए कई दार्शनिकों तथा चिंतकों ने कहा कि वस्तुपरकता की तलाश व्यर्थ है। फिर भी इतिहास लेखन की मुख्यधारा वस्तुपरकता की धारणा से जुड़ी रही। अमरीकी इतिहासकार और वस्तुपरकता के सिद्धांत् के कटु आलोचक पीटर नोविक के शब्दों मे "यह वह चट्टान थी जिस पर इतिहास लेखन का साहसिक कार्य संस्थापित किया गया।"

यदि सभी नहीं तो भी अधिकतर इतिहासकारों ने इस धारणा के साथ लिखा कि उनके लेखन ने संसार की एक वस्तुपरक तस्वीर प्रस्तुत की। जब वह आपस में असहमत हुए तब भी उनका विश्वास था कि उनके विवरण उन अन्य लोगों के विवरणों से अधिक वस्तुपरक है जिनकी वे आलोचना करते थे। इस प्रकार वस्तुपरकता के धरातल पर ऐतिहासिक संग्राम लड़े गए। हालाँकि 1970 के दशक से ही वस्तुपरकता की धारणा ने अपनी सबसे अधिक गंभीर चुनौती का सामना किया। अब इस बात का निश्चयपूर्वक दावा करना बेशक मुश्किल हो गया है कि इतिहास लिखने में वस्तुपरकता को पाना संभव है। बल्कि वस्तुपरकता के कुछ आलोचकों को तो इस बात पर भी संदेह है कि वस्तुपरकता को पाना क्या आवश्यक भी है। यह विवाद सचमुच तीक्ष्ण हो चला है फिर भी अधिकतर सक्रिय इतिहासकार अतीत के सही विवरण को प्रस्तुत करते की संभावना में विश्वास रखते हुए अपना कार्य जारी रखे हुए है। यह इकाई इस विवाद के कई पहलुओं से आपको परिचित कराएगी।

3.2 वस्तुपरकता क्या है?

पश्चिम में वस्तुपरकता इतिहास लेखन परंपरा की आधारित सिद्धांत रही है। हेरोडोटस के समय से ही इतिहासकारों ने लेखक और विषय के विभाजन और ज्ञाता तथा ज्ञात के बीच भेद और अतीत को दोबारा लौटाने की संभावना को माना। वस्तुपरकता सिद्धांत के आलोचक पीटर नोविक ने स्पष्ट रूप से इसे निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया हैः

> "वस्तुपरकता के आदर्श के मुख्य तत्वों को सब अच्छी तरह से जानते हैं और इन्हें संक्षेप में दोहराया जा सकता है। जिन पूर्वधारणाओं पर यह टिकी हुई है उनमें अतीत के यथार्थ से प्रतिबद्धता उस यथार्थ के सादृश्य सत्यता, ज्ञाता और ज्ञात तथा तथ्य और मूल्य के बीच और सबसे पहल इतिहास और कथा साहित्य के बीच एक सुस्पष्ट विभाजन शामिल है। ऐतिहासिक तथ्यों को व्याख्या से पहले से मौजूद और स्वतंत्र माना गया है; किसी व्याख्या का मूल्य इस आधार पर आँका जाता है कि उसमें तथ्यों को कितनी अच्छी तरह से रखा गया है। यदि वह तथ्यों के प्रतिकूल है तो उसे छोड़ दिया जाना चाहिए। यथार्थ एक ही होता है वह किसी परिप्रेक्ष्य में नहीं होता। इतिहास में जो भी उदाहरण हैं वे ढूँढे गए हैं, बनाए नहीं गए हैं। हालाँकि इतिहासकारों की पीढ़ियाँ अपने परिप्रेक्ष्यों के बदलने के कारण अतीत की घटनाओं को विभिन्न महत्व दे सकती थीं पर उन घटनाओं के अर्थ अपरिवर्ती थे।" (पीटर नोविक, *दैट नोबल ड्रीमः द ऑबजेक्टिविटी क्वेश्चन एंड द अमेरिकन हिस्टोरिकल प्रोफेशन,* केंब्रिजः सी यू पी, 1988, पृष्ठ 1-2)

इसलिए इतिहासकार को निष्पक्ष होना चाहिए और किसी भी बात का पक्ष नहीं लेना चाहिए और किसी भी बात का पक्ष नहीं लेना चाहिए। उसे अपनी निजी धारणाओं को छोड़ केवल प्रमाणों की सत्यता पर भरोसा करना चाहिए। पीटर नोविक कहते हैं:

> "किसी वस्तुनिष्ठ इतिहासकार की भूमिका एक तटस्थ या निष्पक्ष न्यायाधीश की भूमिका की तरह होती है। उसे किसी वकील या किसी प्रचारक की भूमिका में नहीं होना चाहिए। इतिहासकार के निषकर्षो से संतुलन और निष्पक्षता की मानक न्यायसंगत विशेषताओं का प्रकट करने की अपेक्षा की जाती है। न्यायपालिका की तरह निष्पक्षता की रक्षा सामाजिक दबावों या राजनीतिक प्रभावों से इतिहास के पेशे को अलग कर के और प्रत्येक इतिहासकार के तरफदारी या पूर्वग्रह की उपेक्षा कर के की जाती है अर्थात किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने के बजाय अन्य निष्कर्ष पर पहुँचने में किसी प्रकार स्वार्थ का न होना। जब इतिहास किसी उपयोग की दृष्टि से लिखा जाता है तब वस्तुपरकता गंभीर संकट में पड़ जाती है। इन सभी बातों के लिए एक सिद्धांत है कि इतिहासकार तिहासकारों की हैसियत से अपने आपको बाहरी निष्ठाओं से शुद्ध करके रखें; इतिहासकारों की प्रमुख निष्ठा वस्तुपरक ऐतिहासिक यथार्थ और अपने उन पेशेवर साथियों के प्रति होती है जो लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए संचयी तथा सहयोगशील प्रयासों से प्रतिबद्ध हों।"

इतिहासकार थॉमस हास्केल ने वस्तुपरकता और तटस्थता को एक-दूसरे का पर्याय नहीं समझा, इसीलिए अपने लेख में उन्होंने कहा है कि "वस्तुपरकता और तटस्थता दो विभिन्न बातें हैं। हालाँकि उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकतर इतिहास लेखन में इन्हें एक-दूसरे के समान माना गया था। फिलहाल इतिहास के क्षेत्र से जुड़े प्रभावी लोगों के बीच से यह शब्द बहुत पहले ही खो चुका है भले ही कभी इसका भावतिरेकता, उदासीनता और तटस्थता से कैसा भी संबंध रहा होगा।" वह इतिहासकारों के उदाहरण देते हैं विशेष तौर पर अमरीकी इतिहासकार यूजीन जीनोवीज़ का जिन्होंने गुलामी पर लिखा और जिनका इतिहास लेखन तटस्थ नहीं, पर वस्तुपरक था। हास्केल अपने बारे में आगे स्पष्ट करते हैं:

> "वस्तुपरकता की मेरी अवधारणा .... दृढ़ राजनीतिक प्रतिबद्धता के अनुरूप है। बीच राह में पड़े रहने से इसे कोई लाभ नहीं पहुँचता और यह इस बात की पहचान कराती है कि विद्वान लोग उतने ही भावप्रवण हैं और किसी स्वार्थ से उतना ही प्रभावित होने की उनमें संभावना होती है जितनी कि उनमें जिनके बारे में वे लिखते हैं।"

इसलिए अब हमारे पास वस्तुपरकता की, जहाँ तक तटस्थता के साथ इसके संबंध का सवाल है, दो कुछ-कुछ भिन्न अवधारणाएँ हैं। हालाँकि अन्य क्षेत्रों में जैसे इतिहास के क्षेत्र के आधारिक सिद्धांत के रूप में वस्तुपरकता की स्थिति, प्रचार और इच्छाजनित धारणा से इसकी दूरी, तर्क और प्रमाणों पर इसका भरोसा और न्यूनतम स्तर की तटस्थता के लिए इसकी आवश्यकता, इसकी सभी परिभाषाओं में समान रूप से है।

3.3 वस्तुपरकता के सिद्धांत का विकास

यह धारणा कि अतीत की यथार्थता होती है और उसे ऐतिहासिक तौर पर कैद कर लेना संभव है, पश्चिमी इतिहास लेखन की प्रभावी परंपरा में अंकित हो चुकी है। पश्चिमी देशों में हेरोडोटस के समय से ही इतिहास लेखन की मुख्यधारा में यह बात कायम रही कि ऐतिहासिक दस्तावेजों में वास्तविक यथार्थ और वास्तविक लोग उल्लिखित हैं। वस्तुनिष्ठतावादी परंपरा का अतीत की यथार्थता और उसके प्रतिरूपित चित्रण की संभावना, दोनों में ही विश्वास रहा है। इसके अनुसार लोगों के व्यवहार और इरादों में एक तरह की अनुरूपता थी और इतिहासकारों को चाहिए कि वे स्वयं अतीत के लोगों के मनोगत संसार को समझने का प्रयास करें।

आधुनिक विज्ञान के विकास ने इस धारणा में एक नया आयाम जोड़ दिया। अब यह दावे के साथ कहा जाने लगा कि विज्ञान में प्रयुक्त पद्धतियाँ मानव ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के लिए उपयुक्त हो सकती हैं। प्रत्यक्षवादियों ने इस दावे को सबसे अधिक दृढ़ता से रखा जबकि उन्नीसवीं शताब्दी में यह एक आम धारणा के रूप में विकसित हो चुका था। प्रत्यक्षवाद के संस्थापक ओगुस्त कोंत का मानना था कि प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त आगमनात्मक प्रणाली को सामान्यतः इतिहास और मानविकी में भी प्रयोग में लाये जाने की आवश्यकता है। उन्होंने मानविकी के लिए वैज्ञानिक दर्जे का दावा भी किया। उनका सोचना था कि सभी समाज कुछ सामान्य नियमों द्वारा संचालित होते हैं जिन्हें खोजना आवश्यक है। उनके अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से सभी समाज विकास की तीन अवस्थाओं से गुजरे थे। यह अवस्थाएँ थीः

1) ईश्वरपरक या कल्पित अवस्था जिसके दौरान मानव मन अपने शैशव काल में था और प्राकृतिक घटनाएँ दैवीय या अलौकिक शक्तियों की परिणाम समझी जाती थीं।

2) पराभौतिक या अमूर्त अवस्था जिसके दौरान मानव मन अपनी किशोरावस्था से गुजर रहा था। इस अवस्था में समझा जाता था कि प्रकृति की प्रक्रियाएँ रहस्यमयी शक्तियों से पैदा होती हैं।

3) सकारात्मक अवस्था जो मानव मन की परिपक्वता और मानव ज्ञान की पूर्णता की साक्षी रही। इस अवस्था में प्राकृतिक घटनाओं के कारणों को नहीं खोजा जा रहा था बल्कि उनके नियमों की खोज की जिज्ञासा पैदा हुई। अवलोकन, तर्क और प्रयोग इस ज्ञान को प्राप्त करने के साधन थे। यह विज्ञान का युग था जो मानव समाजों और मानव मन के विकास की प्रक्रिया की अंतिम अवस्था है।

कोंत के अनुयायियों ने जिन्हें प्रत्यक्षवादी भी कहा जाता है, सभी समाजों और मानव ज्ञान की सभी शाखाओं के लिए उपयुक्त सार्वभौमिक नियमों के अस्तित्व पर बार-बार जोर दिया।

फिर भी वह एक अन्य परंपरा थी जिसने उन्नीसवीं शताब्दी में वस्तुपरक इतिहास का आधार तैयार किया। यह परंपरा जर्मनी में नाइबर तथा रानके ने शुरू की। हालाँकि नाइबर ने इतिहास लेखन की विवेचनात्मक पद्धति की पहले पहल शुरूआत की थी, लेकिन रानके ने ही इसे वास्तविक वस्तुपरक इतिहास लेखन का सविस्तार आधार बनाया। उन्होंने स्पष्ट तौर पर इतिहास को साहित्य और दर्शन से अलग रखा। ऐसा करके इन्होंने इसे कल्पना और पराभौतिक अनुमानों की अतिमात्रा से छुटकारा दिलाने का प्रयास किया। उनके अनुसार इतिहासकार का काम अतीत की जाँच-पड़ताल उसी की शर्तों पर करना था और पाठकों को यह भी बताना था कि 'तत्वतः अतीत कैसा था'। इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं था कि रानके दस्तावेजों पर आँख मूँद कर विश्वास करते थे। दरअसल वह चाहते थे कि इतिहासकार स्रोतों की कड़ी पड़ताल करें और उनकी आंतरिक सामंजस्य खोजें जिसे यह सुनिश्चित हो सके कि वह सही है या बाद में कुछ जोड़ा गया है। वह चाहते थे कि इतिहासकार स्रोतों पर विश्वास करने से पहले समालोचनात्मक दृष्टि से उनकी पड़ताल करें और उन्हें प्रमाणित करें।

लेकिन एक बार जब यह साबित हो जाए कि सभी दस्तावेज प्रमाणित हैं और उसी समय के हैं जिसका अध्ययन इतिहासकार कर रहा है, तब इतिहासकार उनमें पूर्णतया विश्वास कर सकता है। उन्होंने इन दस्तावेजों को प्राथमिक स्रोत कहा और यह माना कि यह दस्वावेज समकालीन युग के सही चित्रण के लिए आधार बन सकते हैं। इसलिए इतिहासकारों को प्रकशित दस्तावेज़ों की तुलना में अभिलेखागार के दस्तावेजों पर अधिक भरोसा करना चाहिए क्योंकि प्रकाशित दस्तावेज़ पूर्वाग्रही और पक्षपाती हो सकते हैं। फिर भी उनका विश्वास था कि अतीत को पुनर्रचित करना संभव है और वस्तुपरकता प्राप्त की जा सकती है।

इस प्रवृति ने इस बात को महत्व दिया कि तथ्य दस्तावेजों में ही थे जिन्हें इतिहासकारों को ढूँढ निकालने की आवश्यकता थी। यदि इतिहासकार निष्पक्ष हों, उचित वैज्ञानिक तरीका अपनाएँ और जाँच-पड़ताल की प्रक्रिया से अपनी छाप हटा दें तो इन्हीं दस्तावेजों से अतीत का पुनर्निर्माण करना संभव है। उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में तथ्यों पर बहुत विश्वास किया जाता था। यह माना जाता था कि यदि एक बार सभी तथ्य मालूम हों तो परम इतिहास लिखा जा सकना संभव है जिसे बदला न जा सके। इतिहास के रीजियस प्रोफेसर और केंब्रिज मॉडर्न हिस्ट्री के प्रथम संस्करण के संपादक लॉर्ड एक्टन ने कहाः

> "इस पीढ़ी में तो हम परम इतिहास नहीं पा सकते लेकिन परंपरागत इतिहास का निपटारा कर हम वह जगह दिखा सकते हैं जिस पर हम पहुँच गए हैं और अब सभी सूचनाएँ हमारी पहुँच के दायरे में हैं और हर समस्या सुलझने लायक हो गई है।"

सभी स्रोतों पर पकड़ बना सकने और परम इतिहास लिखा जा सकने का यह भरोसा संपूर्ण वस्तुपरकता पा सकने की उनकी धारणा में झलकता था जो राष्ट्रीयता, भाषा और धर्म से परे होता। इसलिए केम्ब्रिज मॉडर्न हिस्ट्री के खंडों में योगदान देने वालों के लिए दिए गए अपने निर्देशों में उन्होंने लिखाः

> "सभी सहयोगी यह समझेंगे कि हमारा लेखन ऐसा होना चाहिए जो फ्रांसीसियों, अंग्रेजों, जर्मनों और डच लोगों को समान रूप से संतुष्ट कर सके और लेखकों की सूची जाने बिना कोई यह न कह सके कि कहाँ ऑक्सकॉर्ड के बिशप ने लिखना समाप्त किया और फेयरबर्न या गास्के, लिबरमान या हैरीसन ने उसे आगे बढ़ाया।"

सभी स्रोतों को उघारने और तब परम इतिहास लिखने की संभावना में यह विश्वास लांगलुआ और संयनोबो जैसे फ्रांसीसी इतिहासकारों द्वारा ऐतिहासिक प्रणाली पर लिखी गई अत्यंत लोकप्रिय पाठय पुस्तक में पुख्ता किया गयाः

> "जब सभी दस्तावेज ज्ञात हो जाएँ और उन प्रक्रियाओं से गुजर चुके हों जो उन्हें प्रयोग के लिए उपयुक्त ठहराती हों, तब विवेचनात्मक विद्वता का कार्य समाप्त हो जाएगा। प्राचीन काल के कुछ मामलों में जहाँ दस्तावेज दुर्लभ हों, हम यह मान सकते हैं कि एक या दो पीढ़ियों बाद काम रोक देने का समय आ जाएगा।"

केम्ब्रिज में रीजियस पीठ के एक्टन के उत्तराधिकारी जे.बी. बरी ने इतिहास के वैज्ञानिक महत्व का पुरजोर दावा किया। उनका सोचना था कि "हालाँकि इतिहास साहित्य, कला या दार्शनिक अनुमानों के लिए सामग्री उपलब्ध करा सकता है, लेकिन वह स्वयं केवल एक विज्ञान है न उससे कम, न ज्यादा।"

केम्ब्रिज मॉडर्न हिस्ट्री के दूसरे संस्करण में अपनी प्रस्तावना में जॉर्ज क्लार्क ने परम इतिहास लिखने की संभावना में विश्वास न रखते हुए भी "तथ्यों के पुख्तापन" और "विवादग्रस्त व्याख्याओं से घिरे आवरण"के बीच के अंतर को स्पष्ट किया।

यह स्पष्ट है कि इस तरह की विवेचना में व्याख्या की भूमिका बहुत छोटी थी। इतिहास लेखन दस्तावेजों से संबद्ध था। जब किसी समय के प्रामाणिक दस्तावेज उपलब्ध हों तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि इतिहासकार कौन था। इस दृष्टि से ई.एच. कार इसे कुछ इस तरह देखते हैंः

> "इतिहास निश्चित तथ्यों से बनता है। इतिहासकारों को यह तथ्य दस्तावेजों, अभिलेखों आदि से मिलते हैं जैसे मछली की दुकान से मछली। इतिहासकार उन्हें एकत्र करते हैं, घर ले जाते हैं, पकाते हैं और अपने पसंदीदा तरीके से परोसते हैं।"

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होने के पहले से ही ऐसी धारणाएँ अविश्वसनीय लगने लगी थीं। पुरातत्व विज्ञान और अन्य क्षेत्रों में कुछ नई तकनीकों के व्यवहार में आने से प्राचीनतम समाजों तक के बारे में निरंतर बढ़ती हुई सूचनाएँ उजागर हुई। इसके अलावा बीसवीं शताब्दी के शुरू में इतिहास लेखन राजनीतिक इतिहास से हटकर अन्य दिशाओं की ओर अग्रसर हुआ जबकि उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहासकारों को राजनीतिक इतिहास लेखन में विशेषज्ञता प्राप्त थी। अब सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक इतिहास लिखे जाने की शुरूआत हुई। इतिहासकारों ने पहले से मौजूद दस्तावेजों को नए परिप्रेक्ष्य से और विभिन्न उदेश्यों के लिए देखना शुरू किया। इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया गया कि रानके सहित इन इतिहासकारों के लेखन भी, जो पूर्ण वस्तुपरकता में विश्वास रखते थे और प्राथमिक स्त्रोंतों के इस्तेमाल की वकालत करते थे, आलंकारिक तत्वों से भरे पड़े थे और कई बार तो मुद्रित गौण स्रोतों पर आधारित भी थे।

अत्यधिक सहज और सामान्य उदाहरणों के बजाय व्यक्तिगत तथ्यों से संबद्ध होने के लिए बीसवीं शताब्दी में रानकेवादी परंपरा की आलोचना की गई। इसके अलावा सिर्फ़ राजनीति को महत्व देने और संभ्रांत लोगों को तरजीह देने के लिए भी आलोचना की गई। बीसवीं शताब्दी में इतिहास लेखन की नई प्रवृतियों ने राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा अर्थव्यवस्था और समाज तथा संभ्रात वर्ग की अपेक्षा सामान्य लोगों पर ध्यान केंद्रित किया। इन प्रवृतियों में सबसे अधिक प्रभावशाली थे मार्क्सवादी विचारधारा और इतिहास लेखन का अनाल स्कूल। हालाँकि इनमें रानकेवादी परंपरा की दो मूलभूत विषय-वस्तुएँ एक समान थीं। इनकी धारणा थी कि इतिहास को वस्तुपरक और वैज्ञानिक दृष्टि से लिखा जा सकता था और जिसमें इतिहास लगातार एक दिशा की ओर बढ़ रहा था।

युद्धों के दौरान इतिहास लेखन के वस्तुपरकतावादी तथा वैज्ञानिक दावों को कुछ नुकसान पहुँचा। स्रोत और दस्तावेज़ विभिन्न राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं द्वारा खुल्लमखुल्ला तोड़े-

मरोड़े गए। निरंतर जारी तनाव ने विभिन्न सरकारों और उनके प्रबुद्ध वर्गों, दोनों की ही ओर से हिमायती दावों को जगह दी। इससे इतिहास लेखन भी प्रभावित हुआ और बुद्धिजीवियों को या तो पक्षपात करने या दमन से बचने के लिए अपने विचार छिपाने के लिए उकसाया।

लेकिन अधिकांश कार्यरत इतिहासकारों ने इतिहास में वस्तुपरकता प्राप्त करने की संभावना में अपना विश्वास बनाए रखा। 1820 के दशक में रानके से लेकर 1970 के दशक में रॉबर्ट फ़ोगेल तक वस्तुपरकता के प्रस्तावकों ने इतिहास के वैज्ञानिक दर्जे में विश्वास व्यक्त किया। उनका मानना था कि पड़ताल के उचित वैज्ञानिक तरीके यदि प्रयोग लाए जाएं तो अतीत में जो कुछ भी वास्तव में घटा उसके निकट पहुँचना संभव हो सकता है। उनके लिए इतिहास और साहित्य के बीच एक स्पष्ट विभाजन करना भी आवश्यक था।

3.4 वस्तुपरकता की समालोचना

बीसवीं शताब्दी के अंत तक इतिहास में वस्तुपरकता और वैज्ञानिकता में विश्वास को लगातार बढ़ती हुई मूलभूत चुनौतियों का सामना करना पडा। क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस जैसे मानव विज्ञानियों ने इस बात को नकारा कि तार्किकता और विज्ञान पर आधारित आधुनिक पश्चिमी सभ्यता किसी भी प्रकार से, जहाँ तक जीवन से सफलतापूर्वक सामना करने का प्रश्न था, पूर्व-आधुनिक या यहाँ तक कि असभ्य समाजों से श्रेष्ठ थी। एक अन्य स्तर पर कई इतिहासकारों और इतिहास के सिद्धांतकारों ने इस बात पर विचार करना शुरू किया कि विज्ञान की अपेक्षा इतिहास साहित्य के निकट है। इसके अलावा सास्यूर से शुरू हुए नए भाषायी सिद्धांतों नें जोर शोर से प्रकट किया कि भाषा की भूमिका यथार्थ को प्रकट करने के लिए नहीं बल्कि उसका निर्माण करने में है। इस प्रकार भाषा के जरिए जो संसार हम तक पहुँचाया गया वह वास्तविक संसार नहीं था। इसी तरह इतिहासकारों द्वारा दिया गया अतीत का विवरण वास्तविक यथार्थ से संबद्ध न होकर उस संसार से संबद्ध है जिसकी कल्पना इतिहासकारों ने की। इसलिए इतिहास वह कहानी है जिसे इतिहासकारों ने सुनाया। इतिहास के अमरीकी दार्शनिक लुइस मिंक के शब्दों में, "कहानियाँ जी नहीं जाती हैं, बताई जाती हैं।" मिंक ने आगे तर्क दिया कि "जीवन का कोई आरंभ, मध्य या अंत नहीं होता।"ऐसे क्रम केवल कहानियों में और इतिहास में भी होते हैं। और इसलिए इतिहास बहुत कुछ एक कहानी जैसा होता है।

हालाँकि कुछ तरह से ये जुड़े हुए हैं लेकिन ऐतिहासिक वस्तुपरकता की धारणा पर मोटे तौर पर आलोचना की तीन धाराएँ हैं : प्रमाण और व्यक्तिगत पूर्वग्रह की सीमा, सांस्कृतिक सापेक्षवाद और उत्तर आधुनिक तथा भाषाई मोड़।

3.4.1 प्रमाणों और व्यक्तिगत पूर्वाग्रह की सीमाएँ

यह एक विरोधाभास है कि प्रबोध या ज्ञानोदय (इनलाइटनमैंट) के विचार से प्रभावित होने वाले महान जर्मन दार्शनिक कांट ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने वह विचार प्रस्तुत किए जिन्हें डिल्थे, क्रोचे, कॉलिंगवुड और ओकशॉट ने मानव संसार को प्राकृतिक संसार के ही तरीके से समझा सकने वाली दार्शनिक खोज की आलोचना के लिए आगे बढ़ाया। कांट का प्रतिपादन कि वास्तविक संसार और उस विषय के बीच जो उसे सार्थक ठहराने की कोशिश कर रहा हो एक विभाजन होता है, यह इस विचार में परिणत हुआ कि वास्तविकता का पुनर्निमाण संभव नहीं था और सत्यता का संवाद सिद्धांत तर्कसंगत नहीं था। बाद में यही दृष्टिकोण इस धारणा को चुनौती देने के लिए विकसित किया गया कि इतिहास विज्ञान जैसा हो सकता है। यह हालाँकि दार्शनिक विवेचन की वह परंपरा थी जिसने नीत्शे का अनुसरण किया और जिसने वस्तुपरकतावादी इतिहास लेखन के सामने अधिक गंभीर चुनौती रखी।

जर्मन दार्शनिक विलहाइम डिल्थे (1833-1911) ने वैज्ञानिक ज्ञान और सांस्कृतिक ज्ञान के बीच साफ तौर से सीमा रेखा खींची। 1883 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *इंट्रोडक्शन टु हिस्टोरिकल नालेज*

और बाद में लिखे गए कुछ लेखों में उन्होंने शोध के विभिन्न क्षेत्रों और शोधकर्ताओं के विभिन्न अनुभवों तथा विचारों के आधार पर विज्ञान और इतिहास के बीच भेद स्पष्ट किया। उनके अनुसार जहाँ वैज्ञानिक प्रकृति में यथार्थता को पूर्व रूप में देखता है वहीं इतिहासकार यथार्थ की निर्माण प्रक्रिया में लगा रहता है। इसलिए इतिहास लेखन में वस्तुपरकता लाना असंभव है।

इतालवी इतिहासकार और चिंतक बेनेदेत्तो क्रोचे (1886-1952) ने डिल्थे की इस धारणा का अनुसरण किया कि विज्ञान और इतिहास के बीच एक मूलभूत अंतर है। उनके अनुसार अतीत केवल इतिहासकार के मानस के माध्यम से ही अस्तित्व में रहता है। उन्होंने घोषित किया कि सारा इतिहास समकालीन इतिहास है। ब्रिटिश इतिहासकार और दार्शनिक आर.जी. कॉलिंगवुड (1889-1943) ने आलोचना की इस धारा का विस्तृत विवरण दिया। उनकी मरणोपरांत प्रकाशित पुस्तक *द आइडिया ऑफ हिस्ट्री* में उन्होंने ऐतिहासिक सापेक्षवाद के अपने विचार विस्तार से बताए। उनका मानना था कि "अतीत केवल अतीत के रूप में पूरी तरह से अज्ञेय है।" इसलिए इतिहास वास्तविक अतीत के बारे में बिल्कुल भी नहीं था बल्कि वह इतिहासकार की रचना थी। उनके विचार से "इतिहास में चिंतन का अर्थ और कुछ नहीं बल्कि सभी उपलब्ध प्रमाणों की अधिकतम विवेचनात्मक दक्षता के साथ व्याख्या करना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो वास्तव में घटा उसे खोजा जाए..." प्रत्येक इतिहासकार अपने तरीके से इतिहास लिखता है जिसमें दूसरों के लेखन की बातों के समान बातें हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकती हैं। उन्होंने लिखाः

> "संत ऑगस्टीन ने इतिहास को प्रारंभिक ईसाई दृष्टिकोण से देखा; टिलामोंट ने सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांसीसियों की दृष्टि से; गिब्बन ने अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज की दृष्टि से और मॉमसेन ने उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन दृष्टि कोण से। यह पूछना निरर्थक है कि कौन सा दृष्टिकोण सही था। हरेक वह दृष्टिकोण जिसको किसी ने अपनाया, उसके लिए केवल वही दृष्टिकोण संभव था।"

यही कारण है कि इतिहास उन लोगों द्वारा लिखा जाता है जो मूलतः वर्तमान में दिलचस्पी रखते हैं। और इसमें कुछ भी ग़लत नहीं है। कोलिंगवुड का विचार था कि "क्योंकि अतीत अपने आप में कुछ नहीं है, इसलिए अतीत का अपने आप में ज्ञान इतिहासकार का लक्ष्य नहीं है और न हो सकता है। एक चिंतक की तरह उसका लक्ष्य वर्तमान का ज्ञान है जहाँ सभी बातों को लौट कर आना है और उन्हीं के इर्द-गिर्द विचार करना है।"

इसलिए वर्तमान ही किसी इतिहासकार की एकमात्र चिंता है और होनी भी चाहिए। सारा इतिहास क्योंकि इतिहासकार का अतीत के बारे में विचार है, इसलिए सारा इतिहास विचारों का इतिहास है।

ई. एच. कार इसका समर्थन करते हुए इनमें से कुछ विचारों का सार प्रस्तुत करते हैं। वह कहते हैं कि इतिहासकार अपने समय की देन है और राजनीति से निर्मित होता है। वह समसामयिक विषयों से प्रेरित होता है और अतीत को वर्तमान की आँखों से देखता है। इसलिए अतीत का चित्रण करते समय उसके लिए वस्तुनिष्ठ होना कठिन होता है। उसके शोध और प्रस्तुतिकरण हमेशा उसकी वर्तमान की चिंताओं से रंगे होते हैं। यहाँ तक कि जो प्रमाण वह एकत्र करता है वे भी अतीत की समग्र तस्वीर प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि यह प्रमाण उनकी समकालीन विचारधाराओं तथा पूर्वग्रहों के अनुसार चुने जाते हैं। इसके अलावा अतीत के लोगों द्वारा जो विवरण या प्रमाण हमें विरासत में मिलते हैं, वे चयनित होते हैं। कार के शब्दों में "हमारी तस्वीर हमारे लिए पहले से चुनी हुई और निश्चित कर दी गई हैं। संयोगवश नहीं बल्कि किसी विशेष दृष्टिकोण से ओत-प्रोत उन लोगों द्वारा जिन्होंने बहुत कुछ जानते-बूझते या अनभिज्ञ होते हुए उस दृष्टिकोण की पुष्टि करने वाले तथ्यों को पहले से चुन रखा होता

है।" प्रमाणों पर भरोसा कर लेना और तथ्यों संतुष्ट हो जाना कठिन कार्य है "क्योंकि इतिहास के तथ्य हम तक कभी शुद्ध रूप में नहीं पहुँचते क्योंकि वे शुद्ध रूप में होते ही नहीं है और न हो सकते हैं। वे उन्हें दर्ज करने वाले व्यक्ति के मन पहुँच कर अक्सर मुड़ जाया करते हैं। इस बात के आलोक में ई. एच. कार यह निष्कर्ष निकालते हैं किः

> "कोई भी दस्तावेज हमें उससे अधिक नहीं बताते जितना कि उस दस्तावेज के लेखक ने सोचा था - उसने जा सोचा था वह घटित हुआ, उसने जो सोचा वह घटित होकर ही रहेगा या शायद उसने केवल वही सोचा जो वह चाहता था कि दूसरे भी सोचें या उसने जो स्वयं सोचा केवल उसी ने सोचा।"

इस तरह चयन प्रक्रिया दो स्तरों पर होती है। पहले में अतीत समय का लेखक तय करता है कि क्या दर्ज करने योग्य है और दूसरे में वर्तमान इतिहासकार होता है जो उस चयनित सामग्री को इस आधार पर काटता-छाँटता है कि क्या प्रस्तुत करने योग्य है। इस दृष्टिकोण से अतीत हमारे लिए दो बार गढ़ा जाता है।

3.4.2 सांस्कृतिक सापेक्षवाद

सांस्कृतिक मानव-विज्ञानी क्लिफोर्ड गीर्त्ज से प्रेरित होकर हाल के कुछ इतिहास-चिंतकों ने दावा किया कि इतिहासकारों द्वारा किए गए अतीत के वर्णन उनके अपने होते हैं। इसका अर्थ है कि ऐसी गाथाएँ आवश्यक रूप से इतिहासकारों के सांस्कृतिक तथा सामाजिक पूर्वाग्रहों से प्रभावित होती हैं। विभिन्न संस्कृतियाँ क्योंकि संसार को अलग-अलग तरह से देखती हैं इसलिए भिन्न संस्कृति वाले विद्वान द्वारा किसी अन्य समाज या अतीत का वर्णन वस्तुपरक नहीं हो सकता। ऐसे वर्णन सांस्कृतिक तौर पर निर्धारित किए जाते हैं। इसलिए विभिन्न समाजों के लोग सूर्य ग्रहण का वर्णन अलग-अलग ढंग से कर सकते हैं। इसी तरह किसी राजा की मृत्यु का कारण बुरी आत्माओं, बीमारी या उसके शत्रुओं द्वारा रचा गया षडयंत्र ठहराया जा सकता है। इसलिए इतिहासकार द्वारा रचा गया इतिहास उसकी अपनी संस्कृति की धारणाओं और संकल्पनाओं की मदद से गढ़ा जाता है। इस धारणा के समर्थन में पॉल ए. रॉथ तर्क देते हैं कि "यह दावा करने का कोई उचित कारण नहीं है कि गतिहीन अतीत जैसा कुछ है जो अभिलेखागारों में परिश्रमपूर्ण की गई शोध को सामने लाता है।" इसलिए वह सुझाव देते हैं कि ऐतिहासिक सत्यता की धारणा से अपने आपको मुक्त करना आवश्यक है, क्योंकि

> "अतीत की घटनाएँ विद्यमान रहती हैं घटनाओं के रूप में, केवल ऐतिहासिक धारणाओं के संदर्भ में। घटनाओं की ऐतिहासिक सत्यता की धारणा अर्थात् मानव बोध और वर्गीकरण से अप्रभावित घटनाओं का सापेक्ष महत्व, असंबद्ध साबित होता है। एक संसार है जो हमारी बनाया हुआ नहीं है लेकिन उसका विशिष्ट घटनाओं में किया गया कोई भी विभाजन प्राकृतिक नहीं बल्कि हमारा बनाया हुआ है।"

इसके अतिरिक्त गीर्त्ज भी 'अर्थपूर्ण संकेतों से गुथी हुई व्यवस्था' की तरह संस्कृति की अपनी धारणा में नए भाषाई सिद्धांतों से परिणाम निकालते हैं। उनके विचार से संस्कृति को 'मूल पाठों के एक संग्रह की तरह देखा जाना चाहिए जो सामाजिक विषयों से बनाई गई कल्पना संपन्न रचनाएँ हैं। समाज भी प्रतीकों के संदर्भ में व्यवस्थित किया गया है... इन प्रतीकों का अर्थ हम तब समझ सकते हैं जब उस व्यवस्था को समझें और इसके सिद्धांतों को सूत्रबद्ध करें।' इस तरह समाज और संस्कृति वह विषय बन जाते हैं जिनके अर्थ केवल लाक्षणिक संकेतों से ही समझे जा सकते हैं। उन्होंने दावे के साथ यह कहते हुए कि "यथार्थ भी उतना ही काल्पनिक है जितनी कल्पना" समाज और संस्कृति को एक पाठ के रूप में समझने पर जोर दिया गया। इस तरह के सैद्धांतिक ढाँचे में यथार्थता और इतिहास की कोई भी धारणा गायब हो जाती है। मध्य युग के यूरोप के इतिहासकार गाब्रिएल स्पीगल ने टिप्पणी कीः

> "यदि कल्पित यथार्थ है और यथार्थ कल्पित और इनके बीच भेद करने के लिए ज्ञान मीमांसा का कोई आधार नहीं है तो ऐसा व्याख्यात्मक अनुक्रम बनाना असंभव है जो इतिहास और साहित्य, जीवन और विचार तथा विषय और अर्थ के बीच कोई आकस्मिक संबंध स्थापित कर सके।"

3.4.3 भाषाई तथा उत्तर आधुनिक मोड़

यह परंपरा अतीत से यथार्थ को दोबारा पाने की संभावना की अत्यंत मूलभूत आलोचना प्रस्तुत करती है। यह परंपरा यथार्थ के बजाय भाषा को सामाजिक अर्थ और मानकीय चेतना का संघटक घोषित करती है। इसकी शुरूआत स्वीडिश भाषाविज्ञानी फर्डिनांड द सोस्यूर से हुई जिन्होंने संरचनात्मक भाषाविज्ञान का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके सिद्धांतों ने संरचनावाद, संकेतविज्ञान और उत्तरसंरचनावाद जैसे कई बौद्धिक आंदोलनों को प्रभावित किया।

1916 में मरणोपरांत प्रकाशित अपनी पुस्तक *कोर्स इन जनरल लिंगविस्टिक्स में* सोस्यूर ने मूलतः भाषा के निर्देशात्मक प्रकार्य पर संदेह प्रकट किया। उनके अनुसार भाषा एक संवृत स्वायत्त व्यवस्था है और किसी भी भाषा में शब्द (जिन्हें संकेतक कहा जा सकता है) सांसारिक भौतिक वस्तुओं से नहीं बल्कि धारणाओं से जुड़े होते हैं (जिन्हें संकेतिक कहा जा सकता है)। दूसरे शब्दों में, भाषा संसार में वास्तविक वस्तुओं से संबद्ध नहीं होती। यह संसार के अर्थ संचारित करने का माध्यम नहीं है और भाषा तथा संसार के बीच संबंध व्यवस्थित नहीं बल्कि मनमाने हैं। सोस्यूर के अनुसार भाषा अपने आप अर्थ गढ़ती है और मानव विचार भाषा द्वारा बनाए जाते हैं।

प्रसिद्ध फ़्रांसीसी भाषाविज्ञानी और चिंतक रोलाँ बार्थ ने इन तर्कों को आगे बढ़ाया। उनके अनुसार अतीत की यथार्थता लिखने का इतिहासकारों का दावा धोखा है। उनके द्वारा लिखा गया इतिहास अतीत के बारे में नहीं बल्कि 'अतीत पर लिखा गया एक अभिलेख है जो उसके सादृश्य होने का दावा करता है और यह संकेतकों का प्रदर्शन है जो तथ्यों का संग्रह होने का भ्रम पैदा करता है।' बार्थ के अनुसार इतिहासकारों का अतीत का वर्णन मूलतः अतीत के बारे में कई धारणाओं से संबद्ध है और अतीत का यथार्थ नहीं है। वह कहते हैं:

> "यथार्थवादी दावों के किसी भी वक्तव्य की तरह, इतिहास का वक्तव्य इस बात में विश्वास करता है कि यह दो तरह की रूपरेखाओं को जानता है। यह है प्रसंगार्थ और संकेतक। दूसरे शब्दों में वस्तुपरक इतिहास में यथार्थ और कुछ नहीं बल्कि अप्रतिपादित संकेतित है जो प्रसंगार्थ की स्पष्ट सर्वशक्तिमत्ता के पीछे छिपा रहता है। यह स्थिति उसे परिभाषित करती है जिसे हम 'यथार्थता प्रभाव' कह सकते हैं।"

इस तरह बार्थ वस्तुपरकता को 'निर्देशात्मक भ्रांति' का परिणाम कहते हैं। यह भ्रांति इतिहासकारों की इस धारणा में रहती है कि अतीत का एक संसार अतिसावधानी पूर्वक की गई शोध के जरिए ढूँढा जाना है। दरअसल वह अतीत जिसकी इतिहासकार बात करते हैं केवल उनकी अपनी रचना होती है। इतिहास के पेशे में गढ़ी गई हर प्रकार की सामग्री जैसे शाब्दिक उद्धरण, फुटनोट, संदर्भ आदि वह मोहरे हैं जिनसे एक छलावा रचा जाता है जिसे पाठक यथार्थ या वास्तविक मान सकते हैं। बार्थ कहते हैं कि असल में यह साधन 'यथार्थता प्रभाव' पैदा करते हैं जो पाठकों को इतिहासकार द्वारा रचे गए संसार में विश्वास करने के लिए राजी कर लेता है।

इतिहास लेखन के लिए सबसे अधिक मूलभूत चुनौती जाक देरीदा द्वारा प्रतिपादित विसंरचना सिद्धांत (डीकंश्ट्रकशन् थ्योरी) ने रखी। इसने मनुष्यों की अपनी भाषा व्यवस्था के बाहर यथार्थता को समझने की संभावना को पूरी तरह से नकार दिया। भाषा किसी बाहरी यथार्थ का

प्रतिबिम्ब नहीं है बल्कि स्वतः एक पूर्ण व्यवस्था है जिसका यथार्थ से कोई संबंध नहीं होता। पाठ का अर्थ निर्धारित करने में लेखक की भी कोई भूमिका नहीं होती। इसके अलावा भाषा का अपने आप में कोई तार्किक और सुसंगत ढाँचा नहीं होता है। देरीदा ने भाषा को बिना किसी निश्चित अर्थ के यादृच्छिक संकेतीकरण की व्यवस्था माना। इस तरह पाठ में कई अर्थ होते हैं जो एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। देरीदा कहते हैं कि कोई पाठ

> "लेखन का अंतिम स्वरूप, पुस्तक या उसके हाशिए में दर्ज कथ्य नहीं रह जाता बल्कि वह एक विभेदक संजाल, चिह्नों का एक ताना-बाना होता है जो निरंतर अपने से इतर किसी और चीज की ओर अर्थात किसी अन्य विभेदक चिह्न की ओर इशारा करता है। इस तरह पाठ अब तक उसके लिए तय की गई सभी सीमाओ से बाहर चला जाता है।"

इसलिए देरीदा किसी पाठ में छिपे हुए अर्थो को सामने लाने के लिए विसंरचना के प्रयोग का सुझाव देते हैं। हालाँकि विसंरचना से अंततः किसी भी पाठ से कोई भी अर्थ नहीं निकलता। वह किसी यथार्थ को अपनी सीमाओं से बाहर अभिव्यक्त करने में केवल भाषा की असमर्थता प्रकट करता है। यह प्रक्रिया देरीदा के एक कठिन गद्य में समझाई गई हैः

> "इन पूरकों की श्रृंखला से एक आवश्यकता का इज़हार किया गया है जो अपरिहार्यतः पूरक मध्यस्थताओं को बढ़ाने वाली एक अनन्त श्रृंखला है जो किसी ऐसी वस्तु का अर्थ तय करती है जिसे वह इंगित करती है : उस वस्तु की मृगमरीचिका, उसकी तात्कालिक उपस्थिति, उसका मूल बोध।"

मध्ययुग की इतिहासकार गाब्रिएल स्पीगल देरीदा के वक्तव्य की समीक्षा करते हुए उसे थोड़ी बहुत आसान भाषा में इस तरह से रखती हैं :

> "रचना की भाषा के पीछे कई भाषाएँ, कई पाठ अंतहीन दूरी तक होते हैं जिनमें यथार्थ और भौतिक उपस्थिति हमेशा स्थगित की जाती है, पर जो कभी भी प्राप्य नहीं होती। विसंरचना के अनुसार हम भाषा के जेल के भीतर कैद रहते हैं जहाँ से निकलने का रास्ता नहीं होता ..."

यदि भाषा में शब्द किसी बाहरी यथार्थ से संबद्ध नहीं हो सकते, यदि भाषा के पास कोई निश्चित अर्थ नहीं है और यदि लेख के असंख्य अर्थ निकलते हैं तो वस्तुनिष्ठ दृष्टि से इतिहास लिखना कैसे संभव हो सकता है। ठीक यही वजह है कि इतिहास लेखन की वस्तुपरकता को विसंरचनावादी पलटने का प्रयास कर रहे हैं। रिचर्ड एवान्स ध्यान दिलाते हैं:

> "इससे अर्थ निकलता है कि यह नहीं माना जा सकता कि लेखक जो कुछ लिखते हैं उसके अर्थ पर उनका नियंत्रण रहता है। अर्थ के इस अंतहीन खेल मे, जिससे भाषा बनती है, किसी पाठ का अर्थ, जितनी बार उसे पढ़ा जाए, अलग निकलता है। पाठक उसमें अर्थ भरता है और सभी अर्थ सिद्धांततः समान रूप से मान्य होते हैं। इतिहास के अर्थ को अतीत में नहीं ढूँढा जा सकता, वह विभिन्न इतिहासकारों द्वारा हर बार अलग तरीके से और समान औचित्य से केवल पाठ में डाला जाता है। इतिहास के पाठ और इतिहासकारों के पाठों के बीच कोई आवश्यक या सुसंगत संबंध नहीं होता। जो पाठ अतीत से हमें प्राप्त होते हैं वे अपने अर्थ को लेकर उतने ही यादृच्छिक होते हैं जितने कि अन्य पाठ और ऐसे ही वह पाठ होते हैं जो इनका इस्तेमाल करते हैं।"

अन्य इतिहासकारों ने भी अर्थ के विलोपन को लेकर आशंकाएँ व्यक्त की हैं। इस पर लारेंस स्टोन टिप्पणी करते हैं कि 'यदि पाठ से बाहर कुछ भी नहीं है तो हमारे द्वारा स्वीकृत इतिहास एकदम ही समाप्त हो जाता है और तथ्य तथा काल्पनिकता में भेद नहीं रह जाता।' गाब्रिएल

स्पीगल भी आशंका जाहिर करते हुए कहती हैं कि 'यदि पाठ अर्थात दस्तावेज साहित्यिक रचनाएँ आदि पारदर्शिता से यथार्थ नहीं दिखाते हैं बल्कि सिर्फ अन्य पाठों को प्रतिबिम्बित करते हैं, तो इतिहास के अध्ययन और साहित्यिक अध्ययन में भेद करना कठिन हो सकता है और अतीत काल्पनिकता में घुलमिल जाता है।'

इतिहास के चिंतक लुई मिंक और अमरीकी इतिहासकार तथा सिद्धांतवादी हेडन व्हाइट के अध्ययनों ने साबित किया कि यह आशंकाएँ एकदम गलत नहीं हैं। मिंक ने इतिहास लेखन में एक भीतरी असंगति का जिक्र किया,

> "...तो ऐतिहासिक वृत्तान्त को लेकर हम दुविधा में हैं; इतिहास के रूप में यह अतीत की वास्तविक जटिलता का कुछ अंश प्रस्तुत करने का दावा करता है जबकि वृत्तान्त के रूप में यह कल्पनाशील संरचना की उपज है जो तर्क-वितर्क या प्रमाणीकरण की किसी भी स्वीकृत प्रक्रिया से सचाई या यथार्थ के अपने दावे का समर्थन नहीं कर सकती।"

हेडन व्हाइट यह मानते हुए कुछ और दूर तक जाते हैं कि ऐतिहासिक वृत्तांत यथार्थ का कोई दावा नहीं कर सकता और उसे काल्पनिक ही मानना चाहिए। कई पुस्तकों और लेखों में व्हाइट यह दलील पेश करते हैं कि इतिहास और काल्पनिक साहित्य में कोई अंतर नहीं है। उनकी दृष्टि में "ऐतिहासिक रचनाएँ 'शाब्दिक कल्पनाएँ' हैं जिनके विषय उतने ही कल्पित या आविष्कृत होते हैं जितने कि वे पाए जाते हैं और जिनके प्रकार विज्ञान के विषयों की तुलना में साहित्य में अपने प्रतिरूपों को साथ अधिक साम्य रखते हैं।"

इसी से निकटता से संबद्ध है उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण जिसके अनुसार आधुनिक इतिहास लेखन पश्चिमी साम्राज्यवादी विस्तार से इतनी निकटता से संबद्ध है कि वह निष्पक्ष नहीं हो सकता। इस इतिहास ने अन्य लोगों और संस्कृतियों पर आधुनिक यूरोप की श्रेष्ठता की धारणा को लगातार उचित ठहराया है। इसलिए वस्तुपरकता और निष्पक्षता के इसके दावे संदेह के दायरे में आते हैं।

3.5 इतिहासकारों की चिंताएँ

हाल ही के अतीत में कई इतिहासकारों ने वस्तुपरकता पाने की संभावना के इस पूर्ण खंडन पर चिंता प्रकट करना शुरू किया। ब्रिटिश अमेरिकी इतिहासकार लारेंस स्टोन ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा:

> "पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान इतिहास की विषयवस्तु अर्थात इतिहास की घटनाएँ और व्यवहार तथा समस्या अर्थात् समय के साथ हुए परिवर्तन की व्याख्या पर अत्यंत गंभीर सवाल खड़े किए गए। ऐसा विशेषकर फ्रांस और अमेरिका में हुआ और इसकी वजह से इतिहासकारों में आत्मविश्वास का संकट पैदा हो गया कि वे क्या कर रहे हैं और उसे कैसे कर रहे हैं।"

स्टोन के अनुसार इतिहास के पेशे को यह चुनौतियाँ तीन विभिन्न स्रोतों से मिली जो आपस में संबद्ध थे जैसे जॉक देरीदा द्वारा विकसित विसंरचना का सिद्धांत, क्लिफोर्ड गीत्ज़ द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक मानव विज्ञान तथा नव इतिहासवाद।

गाब्रिएल स्पीगल नाम की एक अन्य इतिहासकार भी इस बात से समान रूप से चिंतित है। वह इस प्रक्रिया की रूपरेखा इस तरह प्रस्तुत करती हैं :

> "...उन्नीसवीं शताब्दी से ऐतिहासिक और साहित्यक अध्ययनों को जो मानदंड संचालित करते थे उनका अब उतना प्रभाव नहीं रह गया है। विश्वस्त और मानवीय धारणा कि अतीक तार्किक वस्तुपरक परीक्षण हमें ऐतिहासिक पाठों के

> प्रमाणिक अर्थ जानने में मदद करते हैं, पिछले दिनों उत्तर आधुनिक आलोचनात्मक बहसों में गंभीर हमलों की शिकार हुई है। इस बहस में इतिहासकारो द्वारा परंपरागत तौर पर अतीत के समझाने के उनके प्रायासों में अपनाई गई कई संकल्पनाएँ निशाने पर आई हैं जैसे कार्यकारण संबंध, परिवर्तन, लेखकीय अभिप्राय, अर्थ का स्थायित्व, मानवीय कर्ता और सामाजिक निर्धारण।"

इस टिप्पणी को आधार मानते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि "वर्तमान विवेचनात्मक वातावरण को एक इतिहासकार की श्रेष्ठता की दृष्टि से देखते हुए जो प्रमुख राय निकलती है वह इतिहास के विलोपन की है जो मानवीय चेतना को बनाने और अर्थ के सामाजिक उत्पादन के प्रेरक के रूप में यथार्थ के बजाए भाषा को महत्व देता है।"

यह उद्विग्नताएँ अनुचित नहीं हैं। उत्तर आधुनिकतावादी भी यही सोचते हैं कि उनके सिद्धांत इतिहास को विलोपन की स्थिति की ओर ले जाएंगे। उत्तरआधुनिक चिंतक कीथ जेनकिंस महान और सीमित इतिहास दोनों के अंत की घोषणा करते हैं। वह कहते हैं कि आधारहीन और अवस्थित अभिव्यक्ति जैसा प्रतीत होता है।

इसके भी पहले पीटर नोविक ने यह लिखते हुए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक समाप्त की कि "वक्तव्यों के व्यापक समूह के रूप में तथा समान उद्देश्यों, समान आदर्शों और समान लक्ष्यों से जुड़े इतिहास का विषय समाप्त हो चुका है।"

इसी विचार के एक अन्य अनुयायी पेट्रिक जॉयस इतिहास के अंत की घोषणा करते हैं क्योंकि "सामाजिक इतिहास आधुनिकता से पैदा होता है" जो "संसार को सीधे-सीधे नाम देने की प्रक्रिया में नहीं लगा रहता बल्कि उसे उसकी राजनितिक तथा बौद्धिक धारणा में बनाता है।"

भारतीय इतिहास के क्षेत्र में भी यह मुददा अब जोर-शोर से प्रकट हो रहा है। कई इतिहासकारों ने बाद के सबाल्टर्न स्टडीज़ में किए गए अध्ययनों की उत्तरआधुनिकतावादी प्रवृति के विरूद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की। ऐसे इतिहासकारों में सुमित सरकार, रोजालिंड ओएनलन, सी. ऐ. बेली, रंजीत दासगुप्ता और डेबिड वॉशब्रुक प्रमुख हैं। उन्होंने भारतीय अध्ययन के संदर्भ में संस्कृतिवाद तथा सापेक्षवाद की ओर झुकाव पर सवाल खड़े किए हैं। हम उन मुद्दों पर इकाई 25 में विस्तार से चर्चा करेंगे। इस खंड को हम यह दोहराते हुए समाप्त करेंगे कि इतिहास लेखन में उत्तरआधुनिकतावादी हस्तक्षेप ने दीर्घकालिक धारणाओं को अव्यवस्थित कर दिया है।

3.6 वस्तुपरकता की संभावना

वस्तुपरकता की संभावना पर ऐसे तीखे हमलों का सामना करने पर किसी को भी संदेह हो सकता है कि क्या किसी प्रकार की वस्तुपरकता या किसी मापदंड को पाना वास्तव में संभव है भी या नहीं और क्या अतीत या फिर विभिन्न समाजों और संस्कृतियों का किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना संभव है। उन आलोचनाओं ने हमें इतना तो बता ही दिया है कि केवल सत्यता का संवादी सिद्धांत ही अधिक विश्वसनीय नहीं है। संसार के बारे में हमारा ज्ञान हमारी वर्तमान चिंताओं, वैचारिक प्रतिबद्धता, सांस्कृतिक और बौद्धिक वातावरण से प्रभावित होता है। इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं कि ऐतिहासिक स्रोत समस्यारहित नहीं हैं। वे व्यक्तिपरकता से व्याप्त होते हैं जो अक्सर चिंता का विषय साबित होती है। हमारे आलोचनात्मक मूल्यांकन के बावजूद अपने स्रोतों के पूर्वाग्रहों से उबर पाना हमेशा संभव नहीं होता। इसी तरह इतिहासकार होते हुए भी हमारे विवेकपूर्ण प्रयासों के बावजूद हमारी अपनी सोच को प्रभावित करने वाले सभी सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को मिटा देना अक्सर कठिन होता है। अधिकांश इतिहासकार अब यह मानते हैं कि अतीत की पूरी तस्वीर का मिलना संभव नहीं है। स्त्रोत कई

प्रकार के होते हैं और उनकी व्याख्याएँ असंख्य हैं। ऐसी स्थिति में अतीत का ठीक-ठीक चित्रण करने का कोई भी दावा खोखला दावा ही होगा।

फिर भी वस्तुपरकता की संभावना को पूर्ण रूप से नकारना बात को दूसरे चरम तक ले जाना है। पूर्ण वस्तुपरकता संभव नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वस्तुपरकता ही संभव नहीं है या वस्तुपरकता की कोई भी तलाश बेकार है। भले ही अतीत का संपूर्ण सत्य सामने लाना संभव नहीं हो सकता तब भी इसका अर्थ नहीं हुआ कि आंशिक यथार्थ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में सापेक्षवादी विचारधारा के आलोचकों में से एक नोएल केरौल कहते हैः

> ''एक अर्थ में ऐतिहासिक वृतांत आविष्कार हैं अर्थात उन्हें द्वारा बनाया जाता है लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि इससे यह माना जाए कि वह बनाए हुए हैं अतः काल्पनिक है।''

वह आगे जोर देते हुए कहते हैं कि :

> ''वृत्तांत पुनर्प्रस्तुतिकरण के रूप हैं और इस अर्थ में, वह खोजे गए हैं, लेकिन इससे उनकी सही सही सूचना देने की क्षमता पर असर नहीं पडता। वृतांत अतीत के बारे में सही जानकारी उपलब्ध करा सकते हैं क्योंकि वे घटनाओं के कालक्रम के उन हिस्सों को खोजते हैं जिनमें पृष्ठभूमि की परिस्थितियाँ, कार्य-कारण, सामाजिक संदर्भ, परिस्थितियों के तर्क, व्यावहारिक संवाद और होने वाली घटनाएँ शामिल होती हैं।''

कैरौल हेडेन व्हाइट और अन्य विद्वानों की आलोचना करते हैं जो यह मानते हैं कि अतीत की प्रतिबिंबात्मक छवियाँ ही ऐतिहासिक वृत्तांत के सत्य को प्रमाणित कर सकती हैं। यदि वह अतीत के दृश्यात्मक बिंब को प्रस्तुत नहीं कर पाता तो वह काल्पनिकता के स्तर तक ही सीमित रहेगा। इस तरह वह या तो प्रतिबिंबात्मक छवि है या काल्पनिकता है इसके बीच में कुछ भी नही है। अनेक इतिहासकारों ने इस दृष्टिकोण पर प्रतिक्रिया व्यक्त की है और ब्रायन फे के शब्दों में ''हर व्यवहार की दृष्टियों को संरक्षित रखने वाली दृष्टि और उसके अतिरेकों की छटनी करने वाले द्वंद्वात्मक मध्यमार्ग'' अपनाने का आग्रह किया है।

3.7 सारांश

वस्तुपरकता के सिद्धांत ने पश्चिमी दुनिया में इतिहास लेखन के लिए आधार तैयार किया है। मानवीय व्यक्तिपरकता के परे भी अतीत का एक संसार होता है, इसकी पूर्ति करने के प्रयासों को प्रेरित किया। आरंभिक उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन इतिहासकार विलहेम रानके ने इस प्रयास को एक मजबूत आधार दिया। इतिहासकारों की कई पीढ़ियों ने रानके का अनुसरण किया और वस्तुपरकताबादी तथा अनुभववादी इतिहास की रचना की। इतिहास के क्षेत्र में इस परंपरा को आज भी बडे पैमाने पर स्वीकारा जा रहा है। हालाँकि इस परंपरा के कई आलोचक भी रहे हैं। सबसे अधिक आम आलोचना जिस बात को लेकर होती है वह है इतिहासकारों की अपने विचारधारात्मक तथा सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को त्यागने की असमर्थता। इसके अलावा इसने इस बात पर भी बल दिया कि स्रोतों के भी पूर्वाग्रहस्त होने के कारण अतीत के यथार्थ को पुनः लाना असंभव होता था। एक अन्य आलोचना के अनुसार संसार के बारे में हमारा ज्ञान पूरी तरह से भाषा के माध्यम से होता है जिसमें इतिहासकार या अन्य लोग बात करते हैं और लिखते हैं। इस प्रकार भाषा भाषाई चित्रण के परे कोईग् संसार नहीं होता। इसलिए किसी भी तरह की वस्तुपरकता को पाना असंभव है। यह आलोचनाएँ कभी-कभी इतिहास लेखन के ही आधार पर संदेह करती हैं। फिर भी अधिकतर अनुभवी इतिहासकार पूर्ण वस्तुपरकता और कुछ आलोचकों द्वारा इसके पूर्ण खण्डन के दावों के बीच के रास्ते पर चलते हैं।

3.8 अभ्यास

1) वस्तुपरकता क्या है? उन इतिहास लेखन परंपराओं की चर्चा कीजिए जो वस्तुपरकता को अपना आधार बनाती हैं।

2) इतिहासकार वस्तुप्ररकता के सिद्धांत की आलोचना के बारे में इतना चिंतित क्यों होते हैं? क्या आप सोचते हैं कि इतिहास लेखन में वस्तुपरकता को पाया जा सकता है?

3) इतिहास में वस्तुपरकता के सबसे पहले आलोचक कौन थे? उनके क्या तर्क थे? क्या आप उनसे सहमत हैं?

4) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए :

   क) सांस्कृतिक सापेक्षतावाद

   ख) भाषाई मोड़

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सी. बेहन मैकुलॉ, *द ट्रुथ ऑफ़ हिस्ट्री,* (लंडन, न्यू यॉर्क, राउटलेज, 1998)।

सी. बेहन मैकुलॉ, द *लॉजिक ऑफ़ हिस्ट्री,* (लंडन, न्यू यॉर्क, राउटलेज, 2004)।

रिचर्ड जे. इवान्स, इन डिफ़ेस ऑफ़ हिस्ट्री, (ग्रांटा बुक्स, लंडन, 1977)।

ब्रियान फे, फिलीप पौम्पर एंड रिचर्ड टी. वॉन (सं.), *हिस्ट्री एंड थ्योरीः कंटेंप्रोरी रीडिंग्स* (मेसाच्युसेट एंड ऑक्सफोर्ड, ब्लैकवेल, 1999)।

कीथ जेनकिन्स (सं.), *द पोस्टमॉडर्न हिस्ट्री रीडर* (लंडन एंड न्यू यॉर्क, राउटलेज, 1997)।

स्टीवन बेस्ट एंड डगलस केलनर, *द पोस्टमॉडर्न थ्योरी : क्रिटिकल इंटेरोगेशन्स* (लंडन, मैक्मिलन, 1991)।

जॉर्ज जी. इगर्स, हिस्टोरियोग्राफी इन द ट्वेंटिथ सेंचुरी : *फ्रॉम साइन्टिफिक ऑब्जेक्टिविटी टू द पोस्टमोडर्न चैलेंज* (हानोवर एंड लंडन, वैस्लियन युनिवर्सिटी प्रेस, 1998)।

स्टेफन डावीस, *इंपिरीसिज्म एंड हिस्ट्री* (न्यू यॉर्क, पालग्राव, 2003)।

जॉफ्री रोबट्र्स (सं.), *द हिस्ट्री एंड नेरेटिव रीडर* (लंडन एंड न्यू यॉर्क, राउटलेज, 2001)।

आर्थर मारविक, *द नेचर ऑफ़ हिस्ट्री* (थर्ड एडिशन, न्यू यॉर्क, 1989)।

इकाई 4 इतिहास, विचारधारा और समाज

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

विचारधारा दृष्टिकोणों, धारणाओं तथा विचारों की एक व्यवस्था होती है। यह सामाजिक-आर्थिक संरचना (उसकी राजनीतिक स्थिति तथा गठजोड़ सहित) को समाज और मानव जीवन की सैद्धांतिक समझ या सांस्कृतिक अभिरुचि और कुछ स्वीकृत मानदंडों के संदर्भ में वैधता प्रदान करती है। अनिवार्यतः वैचारिक दृष्टिकोण का दायरा मानवीय सामाजिक मूल्यांकनों और आर्थिक संबंधों, नैतिक मानदंडों, धार्मिक आस्था, सौंदर्यपरक मूल्यांकन, दार्शनिक विचारों तथा राजनीतिक निर्णयों से संबद्ध उनकी अभिरुचियों में व्यापक रूप से फैला हुआ है। कुछ यथार्थपूर्व स्थितियों के लिए पुष्टिकरण के प्रश्न को केवल प्रोत्साहन के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। विचारधारा उस सामाजिक व्यवस्था के समर्थन से जुड़ी हो सकती है जिसे यथार्थ में उभरना बाकी हो। बेशक, किसी बड़े सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई भी आदर्शवादी आकांक्षा एक उपयुक्त वैचारिक दबाव को केंद्र बना सकती है। तब वह विचारधारा रूढ़िवादी या अतिवादी या उन विपरीत प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण भी हो सकती है। इस तरह इतिहास एक ही समाज में विभिन्न विरोधी विचारधाराओं के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिनमें से कुछ यथास्थिति को ही बचाने में लगी रहती हैं और अन्य स्थितियों की प्रचलित व्यवस्था को बदल कर सुधार या एक क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन लाने तक का प्रयास करती हैं। मुख्य बात यह है कि विचारधाराएँ इतिहास की सूक्ष्मदृष्टि अपने में रखती भी हैं और उन्हें बनाए भी रखती हैं तथा इतिहास को समझने के लिए जरूरी प्रवणता भी पैदा करती हैं।

4.2 इतिहास में विचारधाराएँ

इतिहास में अतीत, वर्तमान और भविष्य का समावेश होता है। भविष्य तो घटित होना है। यह होने के अर्थ में वास्तविक केवल तब होता है जब इसमें रूचि लेने वाले लोग अतीत और वर्तमान की अपनी समझ के जरिए इस पर विचार करते हैं। विभिन्न व्यक्तियों या समूहों की यह समझ काफी हद तक अलग-अलग हो सकती हैं। कालातीत और वर्तमानकाल दोनों ही शायद भविष्यकाल में वर्तमान हैं। इतिहास की किसी प्रक्रिया में कोई भी मानव समाज पूरी तरह से केवल 'वास्तव में क्या घटित हुआ' के प्रमाण से ही नहीं जाना जा सकता। उसे उस बोध की आवश्यकता होती है जो यह बताए कि क्या घटित होने वाला है और जो ज्ञात तथ्य को अनभिज्ञ तथ्य से अलग कर सके। ऐतिहासिक व्याख्या में ऐसे सभी आयामों को मिलाकर देखने में वैचारिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

इसे ध्यान से समझने के लिए प्राचीन यूनान से एक उदाहरण लिया जा सकता है। चौथी और पाँचवीं शताब्दी ई.पू. में एथेंस के एक नागरिक थुसिदीदेस ने पेलोपोनेशियन युद्ध का इतिहास लिखा। यह युद्ध एथेंस और स्पार्टा के बीच हो रहा था। एथेंस एक लोकतांत्रिक देश था लेकिन गुलामों को सभी अधिकारों से दूर रखा गया था और अपनी आजादी की पराकाष्ठा तक शहर गुलामों से अटा पड़ा था और छठी शताब्दी ई.पू.के बाद से लोकतंत्र को बढ़ाने, समुद्रवर्ती तथा नौसैन्य विस्तार से संबद्ध परिवर्तनों से गुजर रहा था। बढ़ते हुए व्यापार के अतिरिक्त समुद्री श्रेष्ठता एथेंस साम्राज्य के उदय और विकास का कारण बनी। इन सब बातों को एथेंस के जीवन और विचारों के तौर-तरीकों में व्यापक परिवर्तन लाने के लिए महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसके विपरीत स्पार्टा में अल्प तंत्रीय शासन था और आर्थिक गतिविधियों तथा जीवन के सामाजिक ढाँचे और उनके दंड विधानों और निषेधाज्ञाओं के प्रति उसका रवैया अत्यंत रूढ़िवादी था।

एथेंसवासी होने के बावजूद थुसिदीदेस लोकतंत्र विरोधी था और अपने पुराने बंधनों को तोड़ते हुए एथेंस के परिवर्तनों के प्रति उसकी सहानुभूति कम ही थी। पेलोपोनेथियन युद्ध में कई जगह थुसिदीदेस ने जो वर्णन और टिप्पणियाँ की हैं वह अल्प तंत्र के प्रति उसकी सहानुभूति प्रकट करती हैं। विषय का विवरण भी उनकी योजना के अनुसार 404 ई.पू. व्यवस्थाओं की कमजोरियों को प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता था लेकिन अगले वर्ष घटनाओं के वास्तविक दौर ने एक अलग दिशा ही पकड़ी। अपनी बहुत हद तक घटी हुई मानवशक्ति के साथ भी नागरिकों ने लोकतंत्रवादी एथेंस में तैनात स्पार्टा की रक्षकसेना के सहयोग से एथेंस पर शासन कर रही अल्पतंत्रीय शक्तियों को हरा दिया। उसमें कोई शक नहीं कि लोकतंत्रवादियों और अल्पतंत्रवादियों के बीच अधिकारों के संघर्ष के सूत्र विभिन्न आर्थिक हितों से जुड़े हुए थे। हालाँकि कुल मिलाकर यूनानी इतिहास में विभिन्न पक्षों को चुनने में विशेष नैतिक सिद्धान्तों के प्रति झुकाव तथा विभिन्न धारणाओं और सांस्कृतिक अभिरूचियों से उत्पन्न परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का खासा प्रभाव था। यहीं हम थुसिदीदेस द्वारा लिखे गए इतिहास में वैचारिक अभिप्राय के तत्व को पाते हैं।

यूरोप में यूनानी-रोमन पुराकाल से उसके आधुनिक काल को विभाजित करने वाले समय को प्रदर्शित करने के लिए मध्ययुग एक सुविधाजनक नाम है। सामंती समाज और अर्थव्यवस्था इतिहास के इस चरण की विशेषताएँ थीं। सामंती भूस्वामियों की श्रेणियाँ, उनके विभिन्न स्तर, गिरजाघर और उसके पुरोहिती विन्यास तथा मुख्यतः दासता में जकड़े हुए मेहनतकश कृषक वर्ग के लिए आवश्यक था कि अपेक्षाकृत निम्नस्तर राजा, आभिजात्य तथा पादरी वर्ग को कुछ विशिष्ट सेवाएँ प्रदान कर उपकृत होगा। हैसियत तथा वैधानिक पद के अनुसार लोगों के वर्गीकरण के सामान्य प्रकारों को सामाजिक जनवर्ग कहा जाता था अर्थात आभिजात्य वर्ग तथा भूस्वामी उच्च जनवर्ग में आते थे जबकि किसान, छोटे शिल्पकार तथा व्यापारी निम्न जनवर्ग में गिने जाते थे। कृषक मजदूरों के सामाजिक अस्तित्व के प्रभावी रूप को सर्फ़डम के नाम से जाना जाता था। सामंतों से प्राप्त भूमि के आबंटन के एवज में किसान मजदूर उस भूमि पर बिना वेतन लिए श्रम करने के लिए बाध्य थे। अतः यह व्यवस्था श्रम भुगतान पर आधारित थी। सामंती व्यवस्था में भूमिकर के भुगतान के कई प्रकार देखने को मिलते हैं जैसे श्रम, उपहार या पैसा। अंततः शहरी वर्ग के उत्थान और अधिक से अधिक स्वतंत्र उत्पादन की प्रवृत्तियाँ उभरने और व्यापार के विस्तार की वजह से सामंती व्यवस्था ध्वस्त हो गई। सामंतवाद के सफाए की प्रक्रिया में किसान विद्रोहों की भूमिका महत्वपूर्ण थी।

सामंती व्यवस्था की वैधता और प्रतिरक्षा की अपनी अलग ही विचारधारा थी। सत्ताधारी ताकतों के कार्यों और हितों का महिमा मंडन करने के लिए आस्थाओं और विचारों की एक व्यवस्था उभर कर आई। उदाहरण के लिए सामंती शूरवीरों के साथ जुड़ी शौर्य की गाथाएँ उन्हें गरीबों के रक्षक और ईसाई धर्म के संरक्षक की भूमिका में प्रस्तुत करती थीं। मध्ययुगीन शूरवीरों के

इस आकलन का सच किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह रहित विचारों और टिप्पणियों से सामने नहीं आ सकता है। निश्चय ही मध्ययुगीन विचारधारा का अधिकांश कथ्य ईश्वर की उस अवधारणा से उपजता है जिसके अनुसार जीवन और मानवीय इतिहास की नियति दुनिया से बाहर स्थित है। अतः मनुष्य की नियति कमोबेश ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर को मानने वालों के लिए वैसे भी इतिहास में जो कुछ भी मायने रखता है वह इस लोक में साम्राज्यों की अस्थाई महानताएँ नहीं हैं बल्कि परलोक में मुक्ति और दंड की चिंताएँ हैं।

इस प्रकार की परलौकिक सांसारिकता के एक अर्थपूर्ण पक्ष पर कार्ल मैनहाइम ने टिप्पणी करते हुए लिखाः

> "जब तक पादरियों और सामंतों द्वारा बनाई गई मध्ययुगीन व्यवस्था अपना स्वर्ग समाज से बाहर, किसी अन्य ऐसे दुनियावी दायरे में देखती रही जो इतिहास के पार था और उनकी क्रांतिकारी धार को कमजोर करता रहता था, तब तक स्वर्ग का विचार मध्ययुगीन समाज का आवश्यक अंग था। जब कुछ सामाजिक समूहों ने अपनी इच्छाओं को अपने व्यवहार में ढाल कर उन्हें पूरा करने के प्रयास किए तभी यह विचारधाराएँ काल्पनिकतावादी दिखने लगीं।"

यूरोप के अधिकांश हिस्सों में, विशेषकर पश्चिमी देशों में मध्ययुगीन काल के बाद पूँजीवाद की शुरूआत और विकास हुआ। यह एक ऐतिहासिक संक्रमण था जो चार शताब्दियों तक चला जिनकी पहचान विज्ञान के अप्रत्याशित विकास और वस्तुओं के उत्पादन में दूरगामी प्रौद्योगिकी और संगठनात्मक परिवर्तनों से की जा सकती है। जहाँ तक इससे जुड़े मानवीय विचारों और मूल्यों का प्रश्न है हमें जर्मनी में सोलहवीं शताब्दी में आरंभ हुए धार्मिक सुधार आंदोलन और मूलतः इटली और बाद में एलिजाबेथ कालीन इंग्लैंड में हुए पुनर्जागरण पर ध्यान देना चाहिए। मानवतावादी संस्कृति का उदय पुनर्जागरण दार्शनिकता की मुख्य विशिष्टताओं के आधार थे। मानवतावाद ने व्यक्ति स्वातंत्र्य पर बहुत ज़ोर दिया, धार्मिक यतिवाद का विरोध किया और सांसारिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति के सुख और संतुष्टि के अधिकार का समर्थन दिया। पेट्रार्च, दांते, बोकाचियो, लियोनार्दो दा विंची, ब्रूनो, कोपरनिकस, शेक्सपियर और फ्रांसिस बेकन प्रमुख मानवतावादियों में से थे। पुनर्जागरण के अर्थ में, मानवतावाद ने ईश्वर को उस संरक्षक के तौर पर देखा जो इस दृष्टिकोण से कही गई सभी बातों का समर्थन करता था। श्रमजीवी वर्ग और उनके कष्टों और दुखों से जुड़े मुद्दों से दूरी मानवतावाद का नकारात्मक पक्ष था। इसलिए वर्ग संदर्भ में यह हद से हद उन दिनों यूरोप के उदीयमान मध्यवर्ग की विचारधारा हो सकती थी।

धार्मिक सुधार आंदोलन का भी ऐसा ही पूर्वग्रह था। कैथोलिक धर्म और पोप के सिद्धांतों के विरूद्ध मुकाबला करते हुए इसने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी देशों के आविर्भाव में सहूलियत पैदा की। सुधार आंदोलन के प्रारंभिक और प्रतिष्ठित नेता मार्टिन लूथर (1483-1546) ने इस बात का खंडन किया कि चर्च और पादरी वर्ग इंसान और ईश्वर के बीच मध्यस्थ हो सकते हैं। लेकिन लूथर न तो जर्मन मध्यवर्ग के भौतिक हितों के लिए मदद देने में और न ही उसकी विचारधारा के समर्थन में या पूँजीवादी मानवतावाद के विचारों का प्रोत्साहन करने के लिए कोई सकारात्मक रुख अपना सके। लूथर ने कृषक युद्ध (1525) के दौरान सत्ताधारी वर्गो का समर्थन किया था। इस संबंध में मार्क्स की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है कि "लूथर ने केवल ईश्वर में आस्था पर आधारित दासता को विश्वास पर आधारित दासता के स्थान पर रखकर उस पर विजय पाई है।"

जॉन केल्विन (1509-1564) का दृष्टिकोण अलग था। उनका कहना था कि अपने कर्तव्य के आह्वान पर प्रतिबद्ध व्यक्ति ईश्वर की कृपा से अपने को साबित कर सकता है। मोक्ष का कोई दूसरा जरिया है ही नहीं क्योंकि लूथर की तरह कैल्विन भी इंसान और ईश्वर के बीच पादरियों

की मध्यस्थता की गुंजाइश को नकार देते हैं। इसका यह अर्थ निकलता है कि इस संसार में कर्म की मात्रा और उसका गुण मानव मुक्ति का एक ही रास्ता है। व्यय करने में नियंत्रण को एक गुण माना गया जो बचत और संचयन करने में मदद देता है। इस तरह कैल्विन की सुधारवादी नीति इतिहास में पूँजीवाद की आवश्यकताओं के अनुरूप साबित हुई है। प्रोटेस्टेंट नीति और पूँजीवाद के बीच संबंध पर अपने अध्ययन के लिए विख्यात जाने-माने जर्मन समाज विज्ञानी मैक्स वेबर (1864-1930) ने पाया कि "तपश्चर्या भी अपने विकास और चरित्र के लिए सामाजिक परिस्थितियों की समग्रता से और विशेषकर अर्थव्यवस्था से प्रभावित थी। आमतौर पर अत्यधिक इच्छाशक्ति वाला आधुनिक मनुष्य भी धार्मिक विचारों को सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चरित्र के विकास के लिए वह स्थान नहीं दे पाता जिसके वह हकदार हैं। लेकिन निश्चय की मेरा उद्देश्य संस्कृति और इतिहास की एकांगी पदार्थवादी कार्य कारण व्याख्या की जगह उतनी ही एकांगी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करना नहीं है" (*द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म* अध्याय 5)। आर्थिक और विस्तृत सांस्कृतिक क्षेत्रों के बीच आपसी संबंधों के बारे में इस प्रकार के विचारों का सबसे महत्वपूर्ण पहलू इतिहास की प्रकिया में भागीदार लोगों की विचारधारात्मक उठा-पटक से संबद्ध है।

आर्थिक व्यक्तिवाद और 'मुक्त व्यापार' के उदय के साथ धर्म, राज्य और नागरिक समाज के बीच एक नया संतुलन स्थापित हुआ। पूँजीवादी संक्रमण और उसके सामाजिक उद्देश्यों के लिए नए नेतृत्व की मुख्य ताकत निजी संपत्ति और उसके प्रयोग को सामंतवादी व्यवस्था और चर्च से प्राप्त आध्यात्मिक प्राधिकार के राजनैतिक एवं धार्मिक बंधनों से मुक्त कराना था। इसलिए अपनी आर्थिक महत्ता के साथ-साथ बुर्जुआ वर्ग की चुनौती यह भी थी कि उसे धार्मिक आस्थाओं और व्यवहार, नीति निर्धारण की प्राथमिकताओं और मानव के सामाजिक जीवन और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के अनेक स्तरों पर काम करना था। नवोदित पूँजीवादी शक्तियों को अपना सामाजिक प्रभुत्व स्थापित करने की प्रक्रिया में यह सब करने की आवश्यकता थी।

पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार आंदोलन के विचारधारात्मक योगदान को पहले ही देखा जा चुका है। विचारों और समाज के परिवर्तन में यूरोपीय इतिहास की क्रमिकता में इसके बाद प्रबोधन (Enlightenment) का युग आता है जो 1668 में इंग्लैंड की भव्य क्रांति के बाद और एक शताब्दी बाद फ्रांसीसी क्रांति पर जाकर समाप्त हुए बौद्धिक इतिहास की प्रमुख घटना है। दिदेरो, वाल्तेयर, रूसो, मान्तेस्कयू, एडम स्मिथ, गयथे, शिलर और कई महत्वपूर्ण विचारक प्रबोधन के दर्शन के अनुयायी थे। यह सभी इस पहली अवधारणा से आरंभ करते थे कि जागरूक व्यक्तिचेतना की सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों को दूर करने में निर्णायक भूमिका होगी। इसका उद्देश्य अच्छाई, स्वतंत्रता, न्याय और वैज्ञानिक जानकारियों का प्रसार करना था आपसी मतभेदों के बावजूद यह सभी लोग मनुष्यों के लिए भौतिकतावादी दृष्टिकोण, शिक्षा के माध्यम से मानव प्रगति के प्रति अटूट आशावादी और समाज और नैतिकता के बारे में कुछ उपयोगितावादी धारणाएँ रखते थे।

प्रबोधन के दर्शन का पूँजीवादी मूल्यों से संबंधों का खुलासा तब होता है जब हम सामाजिक जीवन और संगठन के उनके मुख्य सिद्धांतों का जायजा लेते हैं। प्रबोधन की विचारधारा के ऐसे सामान्य तत्व हैं व्यक्ति की स्वायत्तता, स्वतंत्रता, सभी मनुष्यों की बराबरी, कानून की सार्वभौमिकता, अनुबंध की अनुलंघनीयता, संयम और निजी संपति का अधिकार। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उपरोक्त सभी तत्व बाजार विनिमय व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं। इस तरह प्रबोधन के आदर्शवादी सामाजिक नियम पूँजीवाद का समग्रता से समर्थन करते थे।

4.3 विचारधारा का अर्थ

संभवत विचारधारा शब्द सबसे पहले फ्रांस में तर्कवादी दार्शनिकों ने उस चीज के लिए प्रयोग किया था जिसे उस समय मानव-मस्तिष्क के दर्शनशास्त्र की तरह समझा जाता था। अंग्रेजी

प्रयोग में विंचारधारा का अर्थ विचारों के विज्ञान से था। वैज्ञानिक सामाजिक विचारों के विश्लेषण पर दिए गए जोर ने प्रबोधन के दर्शन को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन दर्शनों का 1789 की फ्रांसीसी क्रांति में काफी अधिक योगदान था। इस क्रांति को लोकप्रिय संप्रभुता प्राप्त करने में अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ा। अगले दशक के अंत तक नेपोलियन बोनापार्ट (नेपोलियन-1) ने सत्ता पर अधिकार कर लिया और उसने प्रबोधन के दार्शनिकों की दर्शन को विघटित करने और इतिहास की सीख और मानव हृदय के ज्ञान के साथ अपने राजनैतिक सामाजिक विचारों का तालमेल बिठाने की विफलता के लिए आलोचना की। नेपोलियन के इस हमले ने विचारधारा के कुछ हद तक अवास्तविक और अव्यवहारिक होने के साथ-साथ उसमें अतिवादी प्रवृतियाँ होने का आभास दिलाया।

नेपोलियन ने विचारकों पर आरोप लगाया कि वह लोगो को संप्रभुता की ऊँचाई तक उठा कर धोखा दे रहे हैं क्योंकि लोग इस संप्रभुता का उपयोग करने में सक्षम नहीं हैं। उसने प्रबोधन के सिद्धांतों को विचारधारा के तौर पर भी कम करके आँका। तार्किकता का एक तत्व विचारधारा का गुण बनता है। यह तार्किकता न तो किसी चीज को सुधारने के लिए सीधी कार्यवाही करने के अर्थ में है और न ही किसी एंद्रिक अवलोकन को समझाने के लिए उचित सैद्धांतिक नियम खोजने के अर्थ में। विचारकों का लोकप्रिय सार्वभौमिकता का समर्थन करना लोगों और उनकी क्षमताओं के बारे में उनके दृष्टिकोणों पर आधारित रहा होगा। नेपोलियन की आलोचना में यह निहित था कि विचारकों ने जनता को उस तरह देखा जिस तरह का वह उन्हें देखना चाहते थे न कि जैसी वह वास्तविकता में थी। यह एक प्रकार की तार्किकता है जो उन दिमागों को प्रभावित करती है जो विचारधाराओं को बढ़ावा देते हैं।

एक महत्वपूर्ण अर्थ में इतिहास की शिक्षाओं और मानव हृदय के ज्ञान पर नेपोलियन का जोर भी विचारधारात्मक अर्थ लिए हुए था जो प्रबोधन के विचारकों का विरोध करता था। यह राजनैतिक सत्ता की प्रकृति के बारे में जनतांत्रिक और गैरजनतांत्रिक प्रतिबंधों के टकराव का मामला था। ऐसा नहीं था कि नेपोलियन की एकमात्र एक व्यक्ति की सत्ता की वकालत को सार्वभौमिक उत्कृष्टता के किसी ऐतिहासिक आधार पर सही ठहराया जाता। वह केवल विशुद्ध और साधारण व्यवहारवादिता वाला प्राणी था। कुछ परिस्थितियों में व्यवहारवादिता भी इस रोजमर्रा की विचारधारात्मक कहावत से बच नहीं सकती कि सफलता से अधिक सफल कुछ नहीं होता। जैसा कि हमने देखा है कि विचारधारा किसी मौजूदा सामाजिक व्यवस्था, उसकी अर्थव्यवस्था, राजनीति और संस्कृति के समर्थन या विरोध में विकसित होती है। तब विभिन्न विचारधाराओं के गुम्फित ज्ञान और नैतिक आस्थाओं के परिवर्तनशील खाँचे क्रिया-प्रतिक्रिया और बदलाव की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं पर अत्यन्त प्रभावकारी हो सकते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य यह बात है कि इतिहास और समाज के बारे में मानव विचार के विकास के लिए प्रयुक्त शब्द विचारधारा के दो भिन्न आशय हैं। इसका एक अर्थ हो सकता है कि किसी विशेष समाज के विचारों का समूह। ऐसे विचार हर वर्ग के लिए अलग-अलग होते हैं जो विभिन्न वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जो परंपरा विरोधी या मैत्रीपूर्ण हो सकते हैं। इसी तरह विचारधाराओं को बुर्जुआ या सर्वहारा आदि नाम दिए जा सकते हैं। किसी भी वर्ग की विचारधारा में उस वर्ग के विशेष हितों की पक्षधरता की प्रवृति होती है। इस प्रकार की पक्षधरता का सामान्य तरीका उन विशेष हितों को संपूर्ण समाज के सामान्य हित की तरह प्रचारित करना होता है।

विचारधारा के दूसरे प्रयोग का अर्थ नकारात्मक है। यहाँ इसका अर्थ गलत पर्यवेक्षणों और निष्कर्षो से उपजे विभ्रम से है। यह वही अर्थ है जिसके आधार पर नेपोलियन ने लोकप्रिय संप्रभुता की विचारधाराओं की आलोचना की थी। इस आलोचना में अर्थपूर्ण अनुभव पर आधारित ज्ञान और विचारधारा में भेद किया गया था। अपने आरंभिक लेखन में हीगल के आदर्शवाद के कथ्य और पद्धति की आलोचना करते हुए मार्क्स और ऐंगल्स ने विचारधारा शब्द

का इसी अर्थ में प्रयोग किया था। उन्होने लुडविग फायरबाख के भौतिकतावाद की सीमाओं का खुलासा करते हुए भी इसी आलोचनात्मक पद्धति का प्रयोग किया था। मार्क्स द्वारा हीगल की 'राज्य' (1843) और 'अधिकार' (1843-44) संबंधी विचारधारा की आलोचना और उनकी *'एकोनोमिक एंड फिलोसोफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स'* (1844) में विचारधारा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सारा जोर हीगल को उलट देने पर था। उदाहरण के लिए विचार और अस्तित्व के बीच सच्चा संबंध यह बताया गया कि अस्तित्व कर्ता है और विचार विधेय है जबकि हीगल विचार को कर्ता और अस्तित्व को विधेय बताते हैं।

हीगल को उलट देने से अनेक प्रकार की अनिश्चितताएँ और बेतुके निष्कर्ष सामने आए। कुछेक का जिक्र करें तो हीगल के परम अधिनायकवादी राज्य की *प्रशस्ति* उनके इतिहास को स्वतंत्रता की चेतना की ओर अग्रसर होने वाले के तौर पर देखने से मेल नहीं खाती। इसके अलावा हीगल का भगवान द्वारा मनुष्य को बनाए जाने का विचार इसी प्रकार की उलटबाँसी है। लुडविग फ़ायरबाख, जो खुद एक प्रचंड हीगलवादी थे, अपनी पुस्तक *द एसेंस ऑफ क्रिश्चेनिटी* (1814) में तर्क देते हैं कि ईश्वर मनुष्य की अपनी ही छवि की रचना है जो ज्ञान, इच्छाशक्ति और प्रेम से युक्त असीमित सत्ता के मानवीय विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। इस विषय के संबंध में मार्क्स ने धर्म की प्रकृति का विश्लेषण किया और वास्तविक जगत की पीड़ाओं और अंतर्द्वंद्वों में उसकी जड़ों को पाया : "धर्म शोषित लोगों की आहें, हृदयविहीन दुनिया का हृदय और आत्महीन परिस्थितियों की आत्मा है। वह जनता की अफीम है।"

अपनी *एकोनोमिक एंड फिलोसोफिकल मैन्युस्क्रिप्ट* (1844) में मार्क्स ने केवल दर्शन की दुनिया में विचरण करना छोड़ दिया। तब उनकी आलोचना पूँजीवाद समाज में मौजूद आर्थिक संबंधों तक जा पहुँची। यह अलगाव भोगते श्रम और निजी पूँजीवादी संपत्ति के क्षेत्र में उसके गहरे अंतर्विरोधों का मार्क्स का पहला विश्लेषण था। साथ ही अलगाव के बंधन से मनुष्य की मुक्ति के आड़े आने वाले लालच और ईर्ष्या जैसी गंभीर रूकावटों के उद्देश्यों पर भी अर्थपूर्ण टिप्पणियाँ की गई थीं।

1845 से 46 के दौरान मार्क्स और ऐंगल्स ने जो एक और महत्वपूर्ण दस्तावेज तैयार किया वह उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो पाया। वह (*द जर्मन आयडियोलॉजी*) पहली बार 1932 में मास्को से प्रकाशित हुआ। *कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल एकोनमी* (1859) की प्रस्तावना में मार्क्स ने इस अप्रकाशित पांडुलिपि को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया:

> "हम लोगों ने मिलकर जर्मन दर्शन के विचारधारात्मक दृष्टिकोण से अपनी असहमति तय करने का निश्चय किया ताकि हम अपनी पिछली दार्शनिक चेतना से दो चार हो पाएँ। हमारा यह निश्चय हीगल के बाद के दर्शन की आलोचना के रूप में प्रकट हुआ। दो बड़े खंडों में तैयार पांडुलिपि बहुत पहले वेस्टफ़ालिया में अपने प्रकाशन स्थल तक पहुँच चुकी थी। जब हमें यह समाचार मिला कि बदली हुई परिस्थितियों में इसका प्रकाशन संभव नहीं है तो हमने अपनी पांडुलिपि को चूहों के कुतरने वाली आलोचना के लिए छोड़ दिया क्योंकि हमने आत्मस्पष्टीकरण का अपना उद्देश्य पूरा कर लिया था।"

मार्क्स और ऐंगल्स ने सुधारवादी हीगलवादियों के रूप में शुरूआत की। यह उनके "अपनी पिछली दार्शनिक चेतना से दो चार होने" के प्रयास को स्पष्ट करता है। हीगलवादी आदर्शवाद से उनके अलग होने की पुष्टि करते हुए जर्मन आयडोलॉजी ऐतिहासिक विकास का पहला मार्क्सवादी वक्तव्य उन विभिन्न चरणों के माध्यम से प्रस्तुत करती है जो उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों के बन्धन पर निर्भर करते हैं। वास्तव में अवलोकन का ध्यान विचारों से हट कर मानवीय संवेदनात्मक कार्यवाही पर केंद्रित हो जाता है। मार्क्स ने फायरबाख पर

टिप्पणी करते हुए कहा था कि "सभी तरह का सामाजिक जीवन आवश्यक रूप से व्यावहारिक होता है। सभी रहस्य जो सिद्धांत को रहस्यवाद की ओर प्रेरित करते हैं, अपने तार्किक समाधान मानव व्यवहार और इस व्यवहार के बोध में पाते हैं।" (*फायरबाख पर शोध प्रबंध,* 1845) वह ऐसे सभी भौतिकवाद के आलोचक थे जो वस्तु को व्यवहार के स्तर पर मानवीय संवेदनात्मक कार्यवाही के तौर पर समझने में सक्षम नहीं थे।

"विचारधारा" शब्द पुस्तक के शीर्षक में ही प्रकट हो जाता है। जो उलट फेर की गई है उसका संबंध चेतना को भौतिक यथार्थ से पहले का माना गया है। मार्क्स का मत है कि सबसे अहम मानवीय समस्याओं की जड़ें वास्तविक सामाजिक अंतर्विरोधों में पायी जाती हैं। पुस्तक की प्रस्तावना में मार्क्स ने एक दिलचस्प किस्सा अपनी बात को सिद्ध करने के लिए दिया है :

> "एक समय की बात है कि एक ईमानदार व्यक्ति का यह विचार था कि लोग पानी में इसलिए डूबते हैं कि वह विचारों के बोझ से लदे होते हैं। अगर उन्हें अपने दिमागों से इस विचार को हटाने का अवसर मिल जाता या कहें कि वह अंधविश्वासों और धार्मिक विचारों से मुक्त होते तो उन्हें पानी में डूबने के खतरे से मुक्ति मिल जाती। वह अपने जीवन में गुरुत्वाकर्षण के इस भ्रम से लड़ता रहा जिसके हानिकारक परिणाम के सभी आँकड़े उसके सामने नए-नए और अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते रहे। यह ईमानदार आदमी जर्मनी की नई क्रांतिकारी दार्शनिकता का एक प्रकार था।"

इसके बाद के मार्क्स के लेखन में हम विचारधारा शब्द का प्रयोग नहीं या बहुत कम पाते हैं। निस्संदेह, इस प्रकार की प्रमुख पुस्तकें *गुंड्रीस* (1857-58), *राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान* (1859) और *कैपिटल* (खंड 1, 1867) हैं। इसके अलावा आर्थिक विचार के ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विश्लेषण *थ्योरी ऑफ सरप्लस वेल्यू* (1861-63) के तीन खंडों में मिलता है जिनका अपना महत्व है और जो हमें यूरोप, और विशेषकर ब्रिटेन और फ्रांस, के पूँजीवाद की विभिन्न अवस्थाओं के संदर्भ में आर्थिक विचार की सापेक्षता का मूल्याँकन करने में मदद करते हैं। फिर मार्क्स ने तत्कालीन यूरोप में हो रही विभिन्न घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं और पूँजीवाद के विरोध की रणनीतियों को प्रभावित करने वाली कमियों और भूल-चूक पर टिप्पणी की है अर्थात् *ए क्रिटीक ऑफ गोथा प्रोग्राम* (1875)। इस आलोचना में हमें पूँजीवाद से समाजवाद की ओर ऐतिहासिक संक्रमण के बारे में मार्क्स के विचारों की झलक दिखलाई देती है। यानी समाजवाद की प्राथमिक एवं उन्नत अवस्थाओं को प्रभावित करने वाली वितरणात्मक एवं कार्यकारी समस्याओं का सामना। उन्नत अवस्था उस साम्यवाद की राह तैयार करती है जो उस वर्गविहीन समाज का पक्षधर है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है और इस प्रकार सभी लोगों के लिए पूर्ण और प्रभावी स्वतंत्रता का आश्वासन देती है। जहाँ तक पूंजीवाद के पतन की बात है, मार्क्स ने पूँजीवादी संपत्ति, उत्पादन के साधनों की वैज्ञानिक प्रगति के साथ संचय की लगातार बढ़ती उसकी प्रवृत्ति और पूँजी की सर्वहारा की क़ीमत पर अपने लाभ बढ़ाने की अपरिमित भूख के बढ़ते हुए अंतर्विरोधों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। मार्क्स ने समाजवादी क्रांति का तर्क इस तरह प्रस्तुत किया : "पूँजीवादी एकाधिकार उत्पादन के उन साधनों के लिए बाधा बन जाता है जो उसी के अधीन विकसित और पल्लवित हुए हैं। उत्पादन के साधनों का केंद्रीकरण और श्रम का सामाजिकीकरण एक ऐसी जगह पहुँच जाते हैं जहाँ वह अपने पूँजीवादी कवच में फिट नहीं हो पाते। यह कवच तब फूट पडता है। पूँजीवादी निजी संपत्ति की मृत्यु की घंटी बजने लगती है। संपत्तिहरण करने वालों की संपत्ति ही छिन जाती है।"

हमने पहले ही देखा है कि मार्क्स के बाद के लेखन में विचारधारा शब्द का बहुत कम उपयोग हुआ है। विचारधारा के दो अर्थो में से विशुद्ध नकारात्मक अर्थ को ऐंगल्स ने अपने कुछ लेख।

ये मिथ्या चेतना (फाल्स कांशियशनेस) के समानार्थी के रूप में भी देखा है। अपने नकारात्मक अर्थ के प्रयोग में भी विचारधारा का अर्थ यथार्थ के अंतर्विरोधों पर परदा डालने की दृष्टि से की गई विकृति है। जहाँ पूँजीवाद में अथाह अंतर्विरोध हैं और जो शोषितों पर कहर ढाता है, पूँजीवादी विचारधारा मार्क्स के शब्दों में "व्यवस्था को मनुष्यों के प्रदत्त अधिकारों के स्वर्ग की तरह प्रस्तुत करती है जहाँ केवल स्वतंत्रता, बराबरी, संपत्ति और बैंथम का ही राज चलता है।" अतः विचारधारा और मिथ्या चेतना की समानार्थता उन अंतर्विरोधों की विशिष्ट चर्चा के बिना भ्रामक हो सकती है जिन्हें छिपाने के प्रयास किए गए हों।

इसके अतिरिक्त *ए कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल एकोनमी* (1859) की अपनी प्रस्तावना में मार्क्स ने कहा है कि "उत्पादन की उन आर्थिक परिस्थितियों के भौतिक परिवर्तन के बीच हमेशा ही अंतर करना चाहिए जिन्हें प्राकृतिक विज्ञान की सटीकता और वैधानिक, राजनीतिक धार्मिक, सौंदर्य शास्त्रीय या दार्शनिक और संक्षेप में कहें तो उन विचारधारात्मक रूपों से पहचाना जा सकता है जिनके तहत मनुष्य इस द्वंद्व के प्रति सचेत होता है और उनसे लड़ता है।" ऐसे विचारधारात्मक रूप न तो मिथ्या चेतना को अभिव्यक्त करते हैं और न ही वह विशुद्ध भ्रामक हैं। मार्क्स एक संपूर्ण सांस्कृतिक युग्म और उसके बहुआयामी पक्षों पर विचार कर रहे हैं। लेनिन ने भी विचारधारा शब्द का ऐसा ही प्रयोग किया और अक्सर उस वर्ग का उल्लेख किया जो उस विचार व्यवस्था से जुड़ा होता था जैसे पूँजीवादी विचारधारा, सर्वहारा की विचारधारा इत्यादि। आंतोनियो ग्रामशी जो बीसवीं शताब्दी के प्रमुख इतालवी मार्क्सवादी विचारक थे, ने कई बार मार्क्स के उपर्युक्त गद्यांश का उद्धरण अपने उस तर्क को मजबूती प्रदान करने के लिए किया है जिसमें वह सामाजिक प्रभुत्व के विचारधारात्मक आयाम का महत्व दर्शाते हैं।

किसी भी समाज व्यवस्था में विचारधारात्मक रूपों के महत्व को आधार एवं अधिरचना की मार्क्स की उस संकल्पना से जोड़ कर देखा जा सकता है जो समाज में आर्थिक गतिविधियों के सामाजिक जीवन में उसके रूपों अर्थात विधि, धर्म, कला, दर्शन और राजनीति से उसके संबंधों को समझने में हमें मदद करती है। मार्क्स का तर्क यह है कि आर्थिक आधार में उत्पादन संबंधों का कुल जमा समाज की आर्थिक संरचना ही है। यही वह वास्तविक नींव है जिस पर वैधानिक और राजनीतिक संरचना खड़ी होती है और समाजिक चेतना के विभिन्न रूप और उनकी अभिव्यक्तियाँ जिससे जुड़ी होती हैं।

आधार और अधिरचना की विशेष उपमा आर्थिक नियतिवाद की ओर ही एक इशारा है। फिर भी मार्क्स ने आर्थिक क्षेत्र से आरंभ होकर सृजनात्मक विविधता से चिह्नित विचारधारा के क्षेत्र तक कार्य-कारण के एक तरफा संबंध की आवश्यकता पर अधिक जोर नहीं दिया। भौतिक और आध्यात्मिक उत्पादन के बीच आपसी प्रभाव की जगह बनी रहती है। विचारों की अधिरचना को केवल राज्य और भौतिक उत्पादन के रूपों के निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं मानना चाहिए। मार्क्स ऐसे कानूनी और सौंदर्यात्मक उत्पादन के उदाहारण देते हैं जो अपने भौतिक उत्पादन की अनुरूप अवस्था में समेटे नहीं जा सकते अर्थात् पूँजीवादी उत्पादन की अवस्था में रोमन निजी कानून के तत्वों का मौजूद होना; और एक कहीं अविकसित भौतिक उत्पादन की अवस्था में ग्रीक कला और साहित्य का ऊँचाइयों को छूना।

4.4 कुछ उत्तरकालीन लेखक

विचारधारा के अर्थ जानने की हमारी पद्धति में हमने मार्क्सवादी विचारों के कुछ तत्वों को गहराई से इस्तेमाल किया है। इतिहास की गति सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए संघर्षरत वर्गों की सापेक्ष क्षमताओं से काफी प्रभावित होती है। हमने देखा कि मार्क्स के लिए उभरती हुई उत्पादन शक्तियों और मौजूद उत्पादन संबंधों का द्वंद्व एक क्रांति में विकसित होता है जो एक नए वर्ग के नेतृत्व वाला नया समाज तैयार करता है।

ऐतिहासिक परिवर्तन के ऐसे सिद्धांत के बारे में मार्क्स के प्रमाण ज्यादातर पूँजीवादी परिवर्तन तक सीमित थे।

इतिहास के अगले चरण का मेल समाजवाद के आगमन से होता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ सर्वहारा की विश्वव्यापी क्रांति के जरिए होगा। क्योंकि सर्वहारा एक वर्गहीन समाज की ओर कई चरणों में बढ़ेगा, इसलिए वर्ग के हितों की रक्षा के लिए विचारधारात्मक सुरक्षा या भुलावे की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यही मार्क्सवादियों का उन टिप्पणियों पर आदतन जवाब है जो कहती हैं कि सर्वहारा और उसके वर्ग हितों के समर्थकों के तौर पर मार्क्सवादी सिद्धांत भी अपने विचारधारात्मक तत्वों से बच नहीं सकता। और फिर सामाजिक अस्तित्व द्वारा चेतना के निर्धारण होने के सवाल को इस कथन से जोड़ कर नहीं देखा जा सकता कि तापमान के गिरने की वजह से पानी बर्फ में तब्दील हो जाता है। यह स्वयं मार्क्स का कथन है कि जहाँ उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों को प्राकृतिक विज्ञान की सटीकता से पहचाना जा सकता है,वहीं विचारधारात्मक रूप आसपास के यथार्थ के विभिन्न स्तरों से जूझती सामाजिक चेतना की पेचीदगियों से प्रभावित होते हैं। जर्मन समाजशास्त्री कार्ल मानहाइम (1893-1947) ने अपनी पुस्तक *आइडियोलॉजी एंड युटोपिया* में लिखा है कि विचारधाराएं वह मानसिक कल्पनाएं हैं जो किसी विशेष समाज की वास्तविक प्रकृति को छिपाने के लिए काम आती हैं। इसके विपरीत आदर्श वह इच्छित स्वप्न हैं जो निहित स्वार्थों के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। इस तरह मानहाइम ने यथास्थितिवादी एवं यथास्थिति विरोधी विचारधाराओं में महत्वपूर्ण भेद किया।

वर्ग चेतना सामाजिक परिवर्तन के मार्क्स के सिद्धांत का महत्वपूर्ण तत्व है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक एवं आंदोलनकर्ता जार्ज लूकाच (1885-1971) ने सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक आलोचना से लेकर दर्शन, समाजशास्त्र और राजनीति जैसे विषयों के विशाल दायरे में अपना महत्वपूर्ण लेखकीय योगदान किया है। उनकी पुस्तक *हिस्ट्री एंड क्लास कॉन्शियसनेस* (1923) उन दिनों के साम्यवादी संस्थानों में खासी विवादास्पद रही। फिर भी कई देशों के परंपरा विरोधी बुद्धिजीवियों के व्यापक तबके पर उसका काफी प्रभाव रहा। वर्ग चेतना का लूकाच का विश्लेषण अर्थशास्त्रवाद और विज्ञानवाद की अपनी आलोचना की वजह से सर्वथा भिन्न था। इसमें जोर इस बात पर था कि सर्वहारा क्रांति पूँजीवाद के आर्थिक अंतर विरोधों की वजह से नहीं होगी, न ही ऐतिहासिक परिवर्तन के किसी वैज्ञानिक नियम की वजह से, बल्कि मजदूरों की सतत चेतना और आंदोलन करने से ऐसी क्रांति संभव होगी। इसके अलावा मजदूर संघों की क्रांतिकारी भूमिका को ध्यान में रखते हुए लूकाच ने जागरूक सामाजिक संस्था के जरिए स्वशासन की सर्वहारा के व्यवहार की आवश्यकता पर भी जोर दिया।

लुई अल्थूजर (1918-1990) की मार्क्सवाद की व्याख्या उनकी *रीडिंग कैपिटल* (1970) और *फॉर मार्क्स* (1969) में उपलब्ध है। इनमें परिपक्व मार्क्स और उसके राजनीतिक, आर्थिक, विचारधारात्मक और सैद्धांतिक संरचना एवं व्यवहार के आपस में जुड़े युग्मों के ढ़ाँचे पर ध्यान केंद्रित किया गया है जो अपनी संपूर्णता में सामाजिक शक्तियों और उनकी गतिविधियों को निर्धारित कर सकते हैं। अल्थूज़र अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक व्यवस्था के अलावा विचारधारा को संरचित सामाजिक बनावटों की तरह इतिहास की मुख्य घटनाओं में शामिल करते हैं। तब विचारधारा मनुष्य द्वारा समाज में जिए गए संबंधों का अर्थ होती है।

आन्तोनियो ग्रामशी (1891-1937) की वर्चस्व की सत्ता की संकल्पना केवल दमन पर निर्भर नहीं करती, बल्कि शासितों से प्राप्त स्वीकृति से भी निर्देशित होती है जो विचारधारा को नए अर्थ प्रदान कर सकती है। ग्रामशी ऐतिहासिक तौर पर जनता से जुड़ी सजीव विचारधाराओं और उच्छृंखल विचारधाराओं में अंतर करते हैं। जिस हद तक विचारधाराएँ ऐतिहासिक तौर पर आवश्यक होती हैं वह मनुष्यों को संगठित करती हैं और ऐसी जमीन तैयार करती हैं जिस पर मनुष्य चलते हैं और अपनी हैसियत एवं संघर्षो की चेतना प्राप्त करते हैं। सजीव

विचारधाराओं की इतिहास की प्रक्रिया पर काफी हद तक प्रभाव डालने की 'मनोवैज्ञानिक' वैधता होती है।

विचारधाराएँ अक्सर बीसवीं शताब्दी के दौरान सामाजिक राजनीतिक सिद्धांतों और उनकी योजनाओं से अलग करके नहीं देखी जा सकती। किसी ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसके पास कोई विचारधारा न हो और दूसरी ओर जो अपने लक्ष्यों और उपलब्धियों के बारे में किन्ही आलोचनात्मक प्रश्नों से मुक्त हो। यहीं इतिहास का रास्ता और उसकी दृष्टि विचारधाराओं के उत्थान और पतन में लगातार शामिल रहेंगी।

4.5 सारांश

विचारधारा शब्द का अक्सर दो तरह से प्रयोग होता है। एक अर्थ में यह विचारों, दृष्टिकोणों और आस्थाओं का समूह होता है जो किसी व्यक्ति या सामाजिक व्यवस्था को संचालित करता है। इसका प्रयोग यथास्थिति को बनाए रखने के लिए किया जा सकता है लेकिन इसका उपयोग किसी व्यवस्था के विरोध के लिए भी किया जा सकता है। किसी सामाजिक व्यवस्था में कई विचारधाराएँ हो सकती हैं जो कई बार एक दूसरे की विरोधी हों। यह वर्गो के अनुसार भी बदल सकती हैं। इतिहास में विभिन्न सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ किन्ही वर्चस्व वाली विचारधाराओं द्वारा घोषित रही है।

एक अन्य अर्थ में विचारधारा की व्याख्या विश्व के वास्तविक और वैज्ञानिक ज्ञान की तुलना में मिथ्या चेतना के तौर पर भी की जा सकती है। इस अर्थ में इसका उपयोग लोगों का भ्रम में रखने और यथास्थिति का समर्थन करने के लिए उन्हें प्रभावित करने में होता है।

4.6 अभ्यास

1) विचारधारा शब्द से आप क्या समझते हैं? इस शब्द के विभिन्न प्रयोगों की चर्चा कीजिए।
2) इतिहास के कालचक्र को प्रभावित करने में विचारधारा की क्या भूमिका रही है?

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

टॉम बोटोमोर एवं अन्य (संपादित), *ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट* (विचारधारा पर जोर्गे लारैन का लेख)।

डेविड एल. सिल्स (संपादित), *इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ दि सोशल साइंसेज़* खंड 7 और 8, एडवर्ड सिल्स का 'विचारधारा' और हैरी एम. जॉनसन का 'विचारधारा और समाज व्यवस्था'।

जॉन लेविन, *फ्रॉम सोक्रेटस टू सार्त्र द फिलोसोफिकल क्वेस्ट,* भाग 4 और 5।

रोबिन ब्लेकबर्न (संपादित), *आयडियोलॉजी इन सोशल सांइसेज़।*

कार्ल लोविथ, *मीनिंग इन हिस्ट्री।*

इस्तवान मेस्ज़ारोस (संपादित), *आस्पेक्ट ऑफ़ हिस्ट्री एंड क्लास कोंशियसनेस।*

आर. जी. कोलिंगवुड, *दि आयडिया ऑफ़ हिस्ट्री।*

इ.पी. थोम्पसन, द *पवर्टी ऑफ़ थ्योरी एंड अदर एस्सेज़* (*आखिरी* लेख का शीर्षक ही पुस्तक का शीर्षक है)।

मार्टिन सेलिंजर, द *मार्कसिस्ट कॉन्शेप्शन ऑफ़ आयडियोलॉजी।*

शोल्मों आविनेरी, *द सोशल एंड पोलिटिकल थॉट ऑफ़ कार्ल मार्क्स।*

एम. ए. इतिहास

पाठ्यक्रमों की सूची

पाठ्यक्रम कोड	पाठ्यक्रम का शीर्षक	क्रेडिट
एम.एच.आई.-01	प्राचीन और मध्यकालीन समाज	8
एम.एच.आई.-02	आधुनिक विश्व	8
एम.एच.आई.-03	इतिहास-लेखन	8
एम.एच.आई.-04	भारत की राजनीतिक संरचनाएं	8
एम.एच.आई.-05	भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास	8
एम.एच.आई.-06	भारत में सामाजिक संरचनाओं का विकास	8
एम.एच.आई.-07	भारत में धार्मिक चिंतन और आस्था	8
एम.एच.आई.-08	भारत में पारिस्थितिकी और पर्यावरण का इतिहास	8

एम.एच.आई.- 3 : इतिहास-लेखन

खंड-वार पाठ्यक्रम संरचना

खंड - 01	इतिहास का परिचय
खंड - 02	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-1
खंड - 03	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-2
खंड - 04	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-1
खंड - 05	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-2
खंड - 06	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-1
खंड - 07	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-2